प्रह्लाद

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द,
समीक्षक कुलगुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
तथा
भारत-रत्न श्रीमती इन्दिरा गांधी
स्मृति-अंक

सम्पादक
डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'
पी-एच०डी०, डी०लिट्०

संयुक्त-सम्पादक
डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
एम०ए०, पी-एच०डी०

वर्ष : १९८४] (अक्तूबर से दिसम्बर तक) [अङ्क : ३

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रधान संरक्षक

श्री बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति

सरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एव उप-कुलपति

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० राधेलाल वार्ष्णेय, जनसम्पर्क अधिकारी

व्यवस्थापक

जगदीश विद्यालंकार

प्रकाशक

वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव

विषय-सूची

'प्रह्लाद' के मुख-पृष्ठ पर अंकित चित्र का विवरण

काँगड़ी ग्राम में आयोजित दस-दिवसीय राष्ट्रीय सेवा योजना शिविर का उद्घाटन कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र ने किया। चित्र में श्री कुलाधिपति, कुलसचिव श्री वीरेन्द्र अरोड़ा, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, डॉ० सुरेश त्यागी और डॉ० वी० डी० जोशी बैठे हुए हैं तथा कुलपति सम्बोधित कर रहे हैं।

१३ अक्तूबर को विश्वविद्यालय परिसर में विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग की अध्यक्ष सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्रीमती डॉ० माधुरीशाह पधारीं। डॉ० शाह ने विश्व-विद्यालय की प्रगति पर हार्दिक संतोष प्रकट किया। (चित्र में) विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा, श्रीमती शाह को विश्वविद्यालय द्वारा संचालित शैक्षिक क्रिया-कलापों तथा योजनाओं का परिचय देते हुए।

आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड प्रणीत "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" ग्रन्थ के विमोचन–समारोह में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को उत्तरीय प्रदान् करते हुए कुलपति बलभद्रकुमार हूजा।

वैदिक दीपमाला

गूहता गुह्यं तमो, वियात विश्वमत्रिणम्
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ।
(ऋक्—१,८६.१०)

खोलो ज्योतिर्द्वार हृदय के, खोलो ज्योतिर्द्वार ।
गूढ़ अँधेरा छाया मन में,
गहन उदासी है जीवन में,

टूट गया आधार, खोलो ज्योतिर्द्वार ।
जीवन का यह पथ दुर्गम है,
आँखों के आगे सब भ्रम है,
कौन करेगा पार, खोलो ज्योतिर्द्वार ।

एह्यूषु ब्रुवाणि ते अग्न इत्येतरा गिरः
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ।
(ऋक् ६,१६.१६)

ज्योति अभिनन्दन तुम्हारा ।
आज नैनों के छलकते अश्रुओं से—
ही करूँगा मौन मैं वन्दन तुम्हारा ।

गीत मेरे थम गये हैं,
गान में अक्षम हुए हैं ।

हे हृदयवासी निकट अपने बुलाओ,
कर सकूँ जिससे कि पद—वन्दन तुम्हारा ।

—पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार
(वैदिक वन्दना गीत—पृष्ठ १०४,१०५)

सम्पादक की कलम से

कुलपिता शत-शत नमन लो

आधुनिक भारत के पुनर्जागरण के प्रस्तोता तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक, कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी की एक धर्मान्ध ने २३ दिसम्बर १९२६ को गोली मारकर हत्या कर दी। स्वामी जी के भौतिक जीवन का अन्त हुआ किन्तु एक पवित्र उद्देश्य तथा मानव-निर्मात्री संस्था के रूप में स्वामी जी मौत के सिर पर पाँव रख कर आज भी जीवित खड़े हैं। हर २३ दिसम्बर को आने वाला सबेरा उस संन्यासी के अमर बलिदान की गैरिक चादर जब ऊषा देवी के हाथ में थमाता है तब लगता है धार्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता और विकास का सूना आकाश एक दिव्य चमक में डूब गया है, इतिहास की स्याही कुंकुम बन गई है और आर्यसमाज का कीर्तिरथ दिग्विजय के पथ पर खड़ा किसी अविचल और निर्भय हुतात्मा सारथी की खोज कर रहा है। उनके निधन पर—कहना चाहिए उनकी वीरगति पर स्पृहा करते हुए **महात्मा गाँधी** ने कहा था—'मृत्यु एक वरदान है, परन्तु उस योद्धा के लिए वह दुगुना वरदान है जो अपने लक्ष्य तथा सत्य के लिए प्राण दे देता है। मुझे उनकी मृत्यु पर शोक नहीं। मुझे तो उनसे तथा उनके स्वजनों से ईर्ष्या होती है क्योंकि यद्यपि स्वामी जी की देह-लीला समाप्त हो गई तथापि वह जीवित हैं। वह उस समय की अपेक्षा अब अधिक सच्चे अर्थ में जीवित हैं जब वह अपनी विशाल काया के साथ हमारे बीच विचरण किया करते थे। ऐसी शानदार मृत्यु के कारण वह देश जिसमें उन्होंने जन्म लिया और वह राष्ट्र जिससे उनका सम्बन्ध है, वस्तुतः बधाई के पात्र हैं। वह सम्पूर्ण जीवन एक वीर की तरह जिए और अन्त में एक वीर की तरह हो उनकी मृत्यु हुई।' **महाकवि रविन्द्र नाथ ठाकुर** ने श्रद्धाँजलि में अपने उद्गार व्यक्त करते हुये लिखा—'सत्य के प्रति श्रद्धा के मूर्तरूप इस श्रद्धानन्द को हम उनके चरित्र के मध्य सार्थक आकार में देख रहे हैं। उनकी मृत्यु कितनी ही दुःखदायक क्यों न हुई हो किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है।' **राष्ट्ररत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद** उन्हें भारत का सांस्कृतिक अग्रदूत मानते थे। उनका यह कथन कितना सार्थक है कि उनकी निर्भीकता, साहस व स्पष्टवादिता के गुणों को अंग्रेजी सरकार अच्छी तरह जानती थी। जो लोग काले कानून के विरोधी आन्दोलन के समय दिल्ली के चाँदनी चौक में मौजूद न भी थे, उनके हृदय-पट पर स्वामी जी की वह निर्भीक मूर्ति अमिट रूप से चित्रित

है। उस समय स्वामी जी ने अंग्रेजी गोलियों और संगीनों के सामने अपना सीना खोलकर हृदय की निर्भीकता तथा उच्चता का प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित किया। उनकी उस शुद्ध तथा उच्च भावना ने जामा मस्जिद के मिम्बर से उनसे उपदेश कराया और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का मनोरम दृश्य दिखलाया और उसी दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता और निर्भीकता के कारण आततायी के हाथों से शहादत पाई। भारत के आधुनिक इतिहास में स्वामी जी का स्थान प्रथम सांस्कृतिक पथप्रदर्शक का है। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के बाद पंजाब के आतंकपूर्ण वातावरण में कांग्रेस के महाधिवेशन का सयोजन उनके निर्भीक व्यक्तित्व का ही परिणाम था। सत्य, अहिंसा और सदाचार पर आधारित राजनीति का उन्होंने समर्थन किया। विदेशी परिधान, रहन-सहन खान-पान तथा विचारधारा का उन्होंने विरोध किया। वह कौम की जरूरतें पूरी करने वाले राष्ट्रभक्त नौजवान पैदा करना चाहते थे इसीलिये उन्होंने पण्डित मोतीलाल नेहरू के एक पत्र के उत्तर में कहा था कि वह ब्रह्मचर्याश्रम पद्धति पर आधारित प्राचीन शिक्षा प्रणाली का उद्धार करना चाहते हैं। अछूत कहलाने वाली जातियों को विराट् आर्य जाति की धारा में मिलाना चाहते हैं, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन करना चाहते हैं तथा अहिंसा के क्रियात्मक प्रचार और पददलित मनुष्यों तथा स्त्री जाति के उद्धार के लिये प्रयत्न करना चाहते हैं। कहना न होगा, स्वामी जी अपने महान् उद्देश्य में सफल हुए।

स्वामी श्रद्धानन्द ने पंजाब तथा दिल्ली में शिक्षा तथा हिन्दी प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अंग्रेजी तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सामंजस्य के साथ वैदिक तथा संस्कृत साहित्य और दर्शन के पठन-पाठन पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। गुरुकुल काँगड़ी उनके इन्हीं सपनों का साकार रूप है। स्त्री-शिक्षा समर्थक होने के कारण १८९१ ई० में जालंधर में उन्होंने कन्या महाविद्यालय की भी स्थापना की। इस विद्यालय की ओर से 'पाँचाल पण्डिता' नामक पत्रिका अंग्रेजी और हिन्दी में निकली जिसने नारी-जागरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

स्वामी जी ने उर्दू में 'सद्धर्म प्रचारक' निकाला, बाद में उसे हिन्दी में कर दिया गया। साप्ताहिक उपदेशों के साथ शिक्षा तथा राजनीति पर उनके लेख हिन्दी में छपने लगे। 'श्रद्धा' नामक पत्रिका भी स्वामी जी ने निकाली। 'सद्धर्म प्रचारक' उनके पुत्रों हरिश्चन्द्र वेदालंकार तथा इन्द्र विद्यावाचस्पति के निरीक्षण में प्रकाशित होता रहा। स्वामी जी की हिन्दी पर उर्दू गद्य के ओज का पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। उनसे प्रेरणा लेकर इन्द्र जी ने विजय, अर्जुन

और सत्यवादी साप्ताहिक निकाले । कुछ समय बाद 'अर्जुन' दैनिक हो गया । अर्जुन ने कई स्नातक पत्रकारों को पत्रकारिता का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया था । स्वामी जी के दौहित्र श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने भी १९३३-३४ में दिल्ली से 'नवयुग' नामक एक दैनिक का सम्पादन किया । स्वामी जी की आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' १९२४ में ज्ञानमण्डल काशी से छपी । उनसे पूर्व जीवनी साहित्य तो लिखा गया पर आत्म-कथा लेखन के क्षेत्र में हिन्दी में भाई परमानन्द कृत 'आपबीती' (१९२१) के अतिरिक्त और कोई कृति नहीं थी । १९१० में सत्यानन्द अग्निहोत्री कृत 'मुझमें देव-जीवन का विकास' एक कृति अवश्य प्रकाशित हुई थी पर यह कृति साहित्यक गुणों से पूर्ण नहीं है । महात्मा-गांधी को आत्मकथा का अनुवाद हिन्दी में हरिभाऊ उपाध्याय नें १९२७ में किया था ।

स्वामी जी का व्यक्तित्व इतना महान् था कि महात्मा गाँधी और श्री दीनबन्धु एण्ड्रूज़ उन्हें भी 'महात्मा' कहकर ही सम्बोधित करते थे । महात्मा जी तो गुरुकुल देखने के लिये इतने अधीर हो गये थे कि ८ अप्रैल १९१५ को गुरुकुल के उत्सव पर कांगड़ी पधारे । उन दिनों वह कच्छी पगड़ी बाँधा करते थे । महात्मा जी ने महामना मालवीय जी से कहा था कि महात्मा तो मुंशी राम हैं जो गंगा किनारे प्राचीन ऋषियों की परम्परा को पुनरुज्जीवित कर रहे हैं । रेम्जे मैकडानल्ड उनके ऋषि जीवन से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें लिखने को विवश होना पड़ा— 'एक महान्, भव्य और शानदार मूर्ति— जिसको देखते ही उसके प्रति आदर का भाव उत्पन्न होता है, हमारे आगे हमसे मिलने के लिये बढ़ती है । आधुनिक चित्रकार ईसा मसीह का चित्र बनाने के लिए उसको अपने सामने रख सकता है और मध्यकालीन चित्रकार उसे देखकर संट पीटर का चित्र बना सकता है ।'

उनके बलिदान पर्व पर हम कुलवासी उन्हें डबडबाये नेत्रों से श्रद्धाँजलि अर्पित करते हैं । कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने कांगड़ी ग्रामोद्धार का महान् यज्ञ श्रद्धाँजलि के रचनात्मक अंग के रूप में ही प्रारम्भ किया । महान् विचारक श्री दीनबन्धु एन्ड्रूज ने कहा भी था कि जब-जब उनकी बलिदान तिथि आये तब-तब उनके सच्चे प्रेमियों का ध्यान उनके प्रिय पात्र गरीबों और दलितों की ओर जाना चाहिये और उन दलितों-गरीबों को भी परमात्मा को सन्तान समझना चाहिए ।

आत्मत्याग, कर्तव्यपालन तथा कष्टसहन की प्रेरणा लेकर हमें कहना होगा—

तू ये दो जहाँ की नियामतें उन्हें बख्श दे जो तलब करें,
मुझे बन्दगी का शऊर दे, तेरी बन्दगी मेरा काम है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शताब्दी समारोह

हिन्दी ही नहीं, भारतीय भाषाओं के साहित्य-समीक्षकों में मौलिक समीक्षाकार आचार्य शुक्ल की जन्म शताब्दी पूरे देश में सोत्साह मनाई जा रही है। शुक्ल जी का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में १८८४ में हुआ। इनके पिता पण्डित चन्द्रबली शुक्ल मीरजापुर जिले में सदर कानूनगो थे। उन पर मुस्लिम तहजीब और उर्दू का गहरा रंग था, पोशाक भी अभारतीय और उस पर दाढ़ी, वे किसी मुसलमान नवाब की तरह प्रतीत होते। एक बार वे चुनार का दौरा कर रहे थे, हिन्दू दंगाइयों ने उन्हें मुसलमान समझकर पकड़ लिया। यदि चुनार के पण्डित राजाराम उनसे परिचित न होते तो वे उस दिन निश्चय ही मार डाले गये होते। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के भ्रातुष्पुत्र श्री चन्द्र-शेखर शुक्ल ने लिखा है कि १८८० के बाद आर्य समाज की लहर उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में उमड़ आयी। पण्डित चन्द्रबली जी भी उससे बच न सके। आर्य समाज के कतिपय सिद्धान्तों का उन पर असर पड़ा। सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका उन्होंने खरीद कर पढ़ी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में आर्य समाज के विचारों का अच्छा प्रचार हुआ। उन्हें आर्य समाज के तर्क पसंद आए। धीरे-धीरे पुराणों की ऊट-पटांग बातों में लोगों का विश्वास घटने लगा। इस तरह वे आर्य समाज की पुस्तकें और प्रचार पुस्ति-काएँ पढ़ने के सिलसिले में हिन्दी से अधिकाधिक परिचित होते गये।[1] तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल का परिवार आर्य विचारधारा का परिवार था। उन पर आर्य समाज का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

शुक्ल जी की प्रारंभिक शिक्षा एंग्लो संस्कृत जुबली स्कूल में हुई। मिडिल पास करके वे लंदन मिशन स्कूल में भर्ती हुए। इसके हैडमास्टर श्री काशीनाथ बरुआ आसामी ब्राह्मण थे, जो ईसाई हो गये थे। प्रधानाचार्य एफ० एफ० लांगमैन थे जो अंग्रेजी और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे। लांगमैन से उक्त दोनों विषयों का गहरा ज्ञान उन्हें मिला। १६ वर्ष की वय में ही उन्होंने एडिसन के 'एसे ऑन इमेजिनेशन' का हिन्दी अनुवाद कर दिया था। हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० नामवर सिंह ने साहित्य अकादमी दिल्ली द्वारा आयोजित शुक्ल शताब्दी समारोह में कहा था कि अपने समकालीन समीक्षकों में शुक्ल जी इतने जाग-रूक पाठक थे कि इधर रिचर्डस् की पुस्तक बाजार में आई और उधर उन्होंने हिन्दी में उसके धुर्रे उड़ा दिये। क्रोचे की उन्होंने बखिया उधेड़ी और साधा-रणीकरण तथा ध्वनि-विवेचन में भरत मुनि से लेकर आनन्दवर्धन तथा

केशवप्रसाद मिश्र तक को बिना किसी दबाव और साहित्यिक आतंक के ललकार दी। शुक्ल जी के पट्टशिष्य, हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही कहा है कि हिन्दी में नित्य अनुसंधान हो रहा है। यह कैसे कहा जाये कि कुछ नहीं हो रहा है, हो अवश्य रहा है पर शुक्ल जी की कसौटी पर कसते हैं तो हम जहाँ के तहाँ हैं। आधुनिक युग में उपन्यास कहानी का जैसा वर्गीकरण शुक्ल जी ने कर दिया, कविता का जैसा निरूपण प्रस्तुत कर दिया, पश्चिमी आलोचना का समुद्र पी जाने वाले भी उतना न उगल सके। शुक्ल जी ने समीक्षा की जो दृष्टि हिन्दी को दी वह किसी आधुनिक भारतीय भाषा या साहित्य में नहीं है।[2] जो उन्हें रिचर्ड्स या डंटन से प्रभावित कहते हैं वे अंग्रेजी से अभिभूत हैं। रिचर्ड्स को उन्होने साक्षी रूप में पेश किया है। डंटन की आधी बात भी पूरी नहीं मानते। चरित्र-चित्रण का अपना नपना उन्होंने तुलसीदास में अपनाया।

अलंकारों का अपना निकष निकाला उन्होंने। न मम्मट के कहने पर चले न बेन के इशारे पर। फिर भी ऐसे मेरु-सुमेरु को बात की फूँक से उड़ा देना चाहते हैं, कलके जोगी आज के महंत। वास्तविकता यह है कि शुक्ल जी की वाणी जिस कवि को ऊँचे उठा गई वह ऊँचे उठ गया, जिसे गिरा गई वह गिर गया।

शुक्ल जी ने हिन्दी में एक स्वतन्त्र समीक्षा-निकाय की स्थापना ही कर डाली। ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक आलोचना की नींव उन्होंने ही डाली। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्राचीन कवियों की समीक्षा तथा नये साहित्य की प्रवृत्तियों के आकलन में साहित्यकार की अन्तर्वृत्तियों का सामाजिक परिस्थितियों के साथ सामंजस्य दिखाते हुए साहित्यिक धाराओं के विश्लेषण, वर्गीकरण तथा उपस्थापन में उन्होंने मनोवैज्ञानिक पद्धति का भी उपयोग किया। धार्मिक तथा साहित्येतर मूल्यों को वह साहित्य से बाहर की वस्तु मानते रहे। नाथपंथी तथा रहस्यवादी काव्य को उन्होंने कभी शुद्ध कविता नहीं माना। शान्ति निकेतन के प्रभावापन्न हिन्दी-आचार्य शुक्ल जी से तथा उनके परिकर के समीक्षकों से इसीलिए अन्त तक खिंचे रहे। शुक्ल जी प्राचीन रसपद्धति की उपयोगितावादी व्याख्या सामाजिक नैतिकता के आधार पर करते रहे। योरुप में उन्नीसवीं शताब्दी में बैन्थम तथा ऑस्टिन आदि दार्शनिक कला को सामाजिक तथा नैतिक चेतना से जोड़ चुके थे। शुक्ल जी की यहाँ नवीनता इस बात में भी है कि उन्होंने साहित्य में आरोपित धार्मिक, नैतिक तथा राजनीतिक प्रतिबद्धता का विरोध किया है। रस्किन और टॉलस्टाय की तरह वह धार्मिक व्याख्या के लिये हठी नहीं, उनकी दृष्टि विशुद्ध साहित्यिक

है। रक्षा और रंजन, करुणा और प्रेम उनके काव्यास्वाद में निहित है। रूपसौंदर्य, भावसौंदर्य और कर्मसौंदर्य के प्रतिपादन तथा विश्लेषण में ही वह कवि और समीक्षक के कार्य की सार्थकता मानते हैं। शुक्ल जी के शिष्यों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय, पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल, जनार्दन प्रसाद झा द्विज तथा डा० केशरी नारायण शुक्ल ने पाठसम्पादन, मध्यकालीन काव्य, आधुनिक काव्य, कथा, नाटक पर समीक्षाएँ लिखीं। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी ने जायसी, सूर, तुलसी पर तर्कपूर्ण, परस्पर सम्बद्ध, भावप्रधान तथा लोकसंग्रही दृष्टि से ग्रन्थ रचना की। मार्मिक जीवनानुभूतियों की हृदयग्राही अभिव्यक्ति की दृष्टि उन्होंने सर्वत्र अपनाई। आधुनिक काव्यप्रवृत्तियों के विवेचन में उन्होंने बाद में अपना स्वर भी बदल लिया। १९३१-३२ तक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा १९३८ में डा० नगेन्द्र ने छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों और रूपशिल्प पर अधिकृत विवेचन प्रकाशित कराया। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इस तथ्य को स्वीकार किया। तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी नवीन ज्ञान और स्थापनाओं के विरुद्ध न थे, वह परीक्षा के बाद उचित और उपयोगी को स्वीकार करते थे। शुक्ल जी के इतिहास में नवीन तथ्यों की तो खोज नहीं है पर उपलब्ध सामग्री का ऐसा विराट् खाका खींच दिया गया है कि उपलब्ध नवीन तथ्यों का श्रमपूर्वक लगाया गया ढेर भी मूल स्थापनाओं को सर्वथा खण्डित करता नहीं जान पड़ता। चिन्तामणि, रसमीमांसा, हिन्दी साहित्य का इतिहास, जायसी तथा तुलसी ग्रन्थावली उनकी कालजयी रचनाएँ हैं।

वे सिद्धहस्त निबन्धकार थे। बुद्धचरित और शशांक के अनुवाद से उन्हें कुशल अनुवादक भी कहा जा सकता है। वे कवि थे। उनकी प्रथम कविता भारत और बसंत आनन्द कादम्बिनी में १८९६ में तथा मनोहर छटा १९०१ में सरस्वती में छपी। उनकी प्रसिद्ध कविता मधुस्रोत १९३० में सुधा में छपी। नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी कविताओं का संकलन प्रकाशित कराया है। उन्होंने १९०८ से १९२७ तक सभा में रह कर शब्दकोष का सम्पादन किया। इसके प्रधान सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास ने अपनी आत्मकहानी में लिखा है कि यदि यह कहा जाय कि शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का श्रेय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचारशीलता का फल है। कोश ने शुक्ल की को बनाया और कोश को शुक्ल जी ने।"

शुक्ल की अंग्रेजी के उद्भट् विद्वान थे। वही ऐसे व्यक्ति थे जो पढ़ाई और परीक्षा का कार्य अंग्रेजी माध्यम द्वारा करा सकते थे। यूनिवर्सिटी का

तब नियम ही वैसा था। मालवीय जी ने १९१६ में ही उन्हें काशी में अध्यापक बना दिया था। हिन्दी पद्यों के भावों को चटपट अंग्रेजी में बदल देना उनके बायें हाथ का खेल था। डा० श्यामसुन्दर दास १९२१ में विश्वविद्यालय आये थे। उनसे पूर्व शुक्ल जी निबन्ध–लेखन पढ़ाया करते थे। लाला भगवानदीन जी अलंकारशास्त्र तथा प्राचीन साहित्य के पण्डित थे। केशव की रामचन्द्रिका तथा कविप्रिया की टीका लिखकर उन्होंने आचार्य मिश्र के शब्दों में हिन्दी प्राध्यापकों की इज्जत बचाई थी पर अंग्रेजी के अभ्यास के न होने से वह विश्व–विद्यालय में उस आसन पर न बैठ सके जिस पर बाबू श्यामसुन्दर दास बैठे। पराधीन भारत के विश्वविद्यालय की यह विडम्बना थी। शुक्ल जी सभा के अध्यक्ष रहे, उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन किया। १९३७ में वह विश्वविद्यालय के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए तथा २ फरवरी १९४१ में हृदय गति रुक जाने से उनका निधन हुआ। अन्तिम समय में उनके पास तसव्वुफ और सूफी मत के लेखक पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय थे जिन्हें शुक्ल जी शाह साहब कहा करते थे। उनके निधन का समाचार सुनते हो काशी विश्वविद्यालय के प्रो-वाइसचांसलर वयोवृद्ध श्री श्यामाचरण डे विह्वल होकर मार्ग में ही गिर पड़े थे। १९४१ की माधुरी में छपी उनके निधन पर रोहिताश्व कुमार अग्रवाल की ये पंक्तियाँ उनको मृत्यु का पूर्वाभास कराने के लिये पर्याप्त हैं—

'शुक्ल जी ने शुक्रवार ३१ जनवरी सन् ४१ तक क्लास लिया। मैथिली-शरण जी की यशोधरा पढ़ा रहे थे जिसमें बुद्ध कहते हैं— 'क्षणभंगुर भव राम राम।' आलोचना करते हुए उन्होंने कहा—बुद्ध देव संसार से कहते हैं—हे नाश-वान् जगत्! तू मुझे छोड़ दे नहीं तो मैं ही तेरे हित के लिये तुझे छोड़ दूँगा। कौन जानता था कि वे स्वयं संसार से विदा ले रहे हैं। चलते समय उन्होंने एक बार फिर कहा—आदाब अर्ज़! राम–राम!'

आचार्य शुक्ल के पट्ट शिष्य और मेरे गुरुवर्य आचार्य पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, शुक्ल जी के निधन पर पढ़ी गई श्रद्धाँजलि के दो श्लोक सुनाया करते थे, जिनका भाव है— साक्षात् आलोचना के रूप में जायसी, तुलसी और सूर के काव्य-वैभव की पहचान कराने वाली तथा साहित्य के इतिहास की सृष्टि कराने वाली हिन्दी ही जिस महापुरुष के निधन पर हा–हा करती रो पड़ी थी, यदि काव्य–कला के न जानने वाले छिद्रान्वेषी उनकी निन्दा करें तो कोई आश्चर्य न होगा क्योंकि वे असज्जन गिद्ध के समान दूसरों के दोष ही देखा करते हैं—

आलोचना विभव विग्रह निर्विशेषः,
श्री जायसी तुलसि सूर गतिः स चासीत्!

भावेतिहास सुसमीक्षितकाव्यसृष्टेः,
हा हेति यस्य निधनेन रुरोद हिंदी ॥
छिद्रानुकर्षणपरैरपरैर्यदि स्या-
न्निंदाकृता सकल काव्यकलाऽनभिज्ञैः ।
तच्छोभनं महदसत्यपदं न चैत-
द् दुष्टः प्रसह्य परदूषण गृध्र दृष्टिः ॥
इन शब्दों के साथ हिन्दी समीक्षक कुलगुरु आचार्य शुक्ल को प्रणाम।

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल—पृष्ठ ३१
२—शुक्ल जी को आधुनिक भारत के संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का मेरुदण्ड मानना चाहिये ।
डा० नगेन्द्र— भारतीय समीक्षा-पृष्ठ ३३

भारत-रत्न श्रीमती इन्दिरा गाँधी का बलिदान

३१ अक्टूबर ८४ का दिन विश्वशान्ति के इतिहास में धूम्रकेतु की तरह आया। भारतीय राजनीतिक वर्चस्व का सूर्य श्रीमती इन्दिरा गाँधी के रूप में अस्त हो गया। प्रधानमंत्री आवास ही में उनके सुरक्षा सिपाहियों ने उनकी गोली मार कर हत्या कर दी। स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा गाँधी के बलिदान के द्विभुज में यह तीसरी भुजा जुड़ी। इतिहास का फीता इस त्रिवेणी की बलिदान-धारा को नापने के लिए बहुत छोटा पड़ गया है।

इन्दिरा जी का जीवन और मृत्यु दोनों शानदार रहे हैं। निर्गुट सम्मेलन का आयोजन और फिर निर्गुट राष्ट्रों का नेतृत्व कर अपनी प्रतिभा, सूझबूझ, संगठन-क्षमता, निर्भीकता और विश्व-संवेदनशीलता के कारण उन्होंने तीसरी शोषणमुक्त शान्तिप्रिय दुनियाँ के निर्माण को नींव डाली। सार्वजनीन लोकप्रियता तथा धर्मनिरपेक्षता के प्रतीक रूप में उनका वर्चस्व न सह सकने के कारण वह एक बड़े षड्यंत्र का शिकार बनीं। दीन–दलितों की मसीहा तथा शक्ति-सम्पन्न समृद्ध भारत की निर्माता, आज हिमालय के हिम-मण्डित शिखरों में अनन्त निद्रा में लीन होकर भी भारतीय युवकों को ऊँचा और ऊँचा उठने की प्रेरणा दे रही हैं। लोकतंत्र, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के लिए बलिदान हो जाने वाली इस राष्ट्र-जननी को हमारे शत-शत प्रणाम।

१६ नवम्बर १६१७ को उनका जन्म प्रयाग के आनन्द भवन में हुआ था। उनके पिता पण्डित जवाहरलाल नेहरू और पितामह पण्डित मोतीलाल नेहरू स्वतन्त्रता संग्राम की रीढ़ थे। मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में सम्पन्न होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द रहे और इस प्रकार नेहरू परिवार को स्वामी जी का आशीर्वाद तथा सक्रिय सहयोग सहज प्राप्त हो गया। कांग्रेस के क्रिया-कलापों का प्रतीक था आनन्द भवन। अतः इन्दिरा जी को शैशव में घुट्टी के साथ राष्ट्रप्रेम, त्याग, तप और स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने की प्रेरणा प्राप्त हुई। बड़ी होने पर जहाँ उन्होंने १६३४ में शान्ति निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त की वहाँ १६३६ में आक्स-फोर्ड के समरविल कालेज में प्रविष्ट होकर वह पाश्चात्य साहित्य, राजनीति तथा दर्शन की अध्येता बनी। वह भारतीय सांस्कृतिक इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का अनोखा संगम थीं। इंग्लैंड में रहते हुए वह कृष्णमेनन से प्रभावित हुई तथा लेबर पार्टी में शामिल होकर मजदूर दल के अधिवेशनों में भी भाग लेने लगी। १६४२ में उनका विवाह श्री फिरोज गाँधी से हुआ तथा विवाह के छह महीने बाद हो वह १३ महोने के लिए जेल चली गई। १६४४ से १६४६ के बीच उनके पुत्र राजीव और संजय का जन्म हुआ। श्री राजीव योग्य माता के योग्य पुत्र हैं और उनके अधूरे कार्यों को पूर्ण करने का संकल्प लेकर प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुए हैं। उनसे देश को बड़ी आशाएँ हैं।

१६४७ में देश आजाद हुआ। साम्प्रदायिक दंगों के बीच महात्मा गाँधो की प्रेरणा से वह निर्भीकतापूर्वक आगे बढ़ीं। आपसी सद्भाव के निर्माण में उनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। नेहरू जी के प्रधानमंत्री होने पर वह उनकी मुख्य सहायक रहीं। ढेबर भाई के कांग्रेस अध्यक्ष का पद छोड़ने पर २ फरवरी १६५६ को वह बयालीस वर्ष की आयु में कांँग्रेस का अध्यक्ष चुनी गई। ६ फरवरा को कांँग्रेस संसदीय पार्टी ने जब उनका सम्मान किया तो पण्डित नेहरू ने कहा था—'मुझे उनके अच्छे मिजाज पर, काम करने की शक्ति पर, ईमानदारी और संजीदगी पर गर्व है।' इन्दिरा जी उनकी पुत्री ही नहीं, शिष्या भी थीं। १६३० से १६३३ तक विश्व इातहास की झलक दिखाने के लिए नेहरू जी ने इन्दिरा जी के नाम जो पत्र लिखे थे, वह उनका पत्राचार द्वारा किया गया शिक्षण ही था। १६६४ में नेहरू जी के निधन के बाद श्री लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमण्डल में उन्हें सूचना-प्रसारण मंत्रालय का काम सौंपा गया। २४ जन-वरी १६६६ को वह भारत की तीसरी तथा पहली महिला प्रधानमंत्री बनीं। पाकिस्तान के साथ युद्ध में विजय, बांगला देश का निर्माण, नक्सल-वाद का ध्वंस, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, उपग्रह प्रणाली का विकास, पोकरन का अणु विस्फोट, कांग्रेस का विभाजन, गरीबी उन्मूलन, बीस सूत्री कार्यक्रम,

भू-उपग्रह और दूर-संचार तकनीक का विकास, पंजाब के आतंकवाद का सामना तथा गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का नेतृत्व उनके राजनीतिक जीवन की उपलब्धियाँ हैं। अपने कार्यकाल में वह सबसे विवादास्पद रहीं और विवाद के घेरे में पड़कर भी वह प्रगति की राह से विचलित नहीं हुईं, यह थी उनकी अडिगता और स्थितप्रज्ञता।

उनका सारा जीवन चुनौतियों का सामना करते हुए व्यतीत हुआ। जिस धर्मनिरपेक्षता, समानता और लोकतंत्र के लिए वह जीवन भर कार्य करती रहीं, उन्हीं मूल्यों की रक्षा के लिए उन्हें अपनी जान गँवानी पड़ी। यह दुर्घटना राष्ट्र की एकता को तोड़ने का षड्यंत्र करने वालों की चुनौती है, जिसका सामना इन्दिरा जी के बताए हुए मार्ग पर ही चल कर किया जा सकता है। उनके अभाव से देश लड़खड़ा अवश्य गया है, देश की आंतरिक व्यवस्था को भी छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा की गई है, पर यह चुनौती मुश्किल तो है, असाध्य नहीं। देश की सम्बद्ध परम्पराओं को टूटने से बचाने के लिए हमें एकजुट होना है और इसी रूप में हम दिवंगत प्रधानमंत्री को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं। उनके बलिदान का स्वर्णकलश युग-निर्माण की पवित्र गायत्री को जन्म देगा। कौन कहता है कि उनसे युग का अन्त हुआ? अब तो नये युग का प्रारम्भ होगा।

वर्तमान अंक

प्रह्लाद का यह अंक कुलपिता स्वामी श्रद्धानंद तथा समीक्षक कुलगुरु आचार्य शुक्ल की स्मृति में संयुक्तांक है। इस अंक के लेखक, सह-सम्पादक तथा प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सामग्री, सुझाव तथा सहायता देकर अंक आपके हाथों तक पहुँचाने में सुकरता प्रदान की।

— डा० विष्णुदत्त राकेश
सम्पादक

कुलपुत्र सुनें, कुलपरम्परा के संवाहक सुनें !

बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति

प्रतिवर्ष २३ दिसम्बर को अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान-दिवस आता है। हम उस दिन प्रातःस्मरणीय स्वामी जी को श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हैं और समझते हैं कि हमारा कर्त्तव्य पूरा हो गया। स्वामी जी ने अपने बलिदान से पूर्व जो वसीयत लिखी थी, उसमें विशेष रूप से कहा था कि गुरुकुल की अपनी सभी विशेष परम्पराओं के साथ रक्षा की जाय। मैं ६ वर्ष पहले यही संकल्प लेकर इस पुण्यभूमि में प्रविष्ट हुआ। मुझे बताया गया कि गुरुकुल में अराजकता है और पठन-पाठन का कार्यक्रम भी व्यवस्थित और सुचारु रूप से नहीं चल पा रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की जो जाँच समिति मुझ से पूर्व आई थी उसने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से लिख दिया था कि विश्वविद्यालय स्वामी जी द्वारा निर्धारित तथा आयोग द्वारा अपेक्षित लक्ष्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहा है, अतः इसका विश्वविद्यालय के समकक्ष स्तर समाप्त कर, इसे मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालय बना देना चाहिए। आयुर्वेद महाविद्यालय तब हमारा अंग था। वहाँ के अध्यापकों को कई मास से वेतन नहीं मिला था। वेतनभोगियों की उस दुर्वह स्थिति का अनुमान लगाना भी क्लेशकर है। मेरे आग्रह पर तत्कालीन कुलसचिव डा० गंगाराम ने विश्वविद्यालय फंड से तीस हजार रुपया देकर उनके बकाया वेतन का भुगतान किया। आर्थिक संकट से विपन्न विश्वविद्यालय की समस्याओं में गहराई से उतर कर मैंने विचार किया और पाया कि विश्वविद्यालयीय संविधान के संशोधन के बिना विश्वविद्यालय दलगत राजनीति की काली छाया से उबर कर ज्ञान और समृद्धि का सूर्य परिसर में नहीं उगा सकता। विश्वविद्यालय के गुरुजन तथा शिष्य अनुसंधान, शिक्षा तथा प्रसार के कार्य में दत्तचित्त होकर आगे नहीं बढ़ सकते। फलतः इस हेतु पद्मभूषण डा० सूर्यभानु की अध्यक्षता में १० सदस्यीय समिति का निर्माण हुआ जिसने संविधान में उपयुक्त संशोधन प्रस्तावित किए। संतोष का विषय है कि आज विश्वविद्यालय के पास ऐसा संविधान है जो उसके स्वरूप की रक्षा तथा स्थायित्व में पूर्ण सहायक हो सकेगा। इसके लिए श्री पिल्ले तथा डा०गंगाराम धन्यवाद के पात्र हैं। इस संविधान में यह व्यवस्था है कि कुलपति के मनोनयन में अनुदान आयोग का प्रतिनिधि

रहेगा ताकि कुलपति पद के दो-दो दावेदार न पैदा हो सकें जिसके कारण पिछले वर्षों में गुरुकुल की खिल्ली उड़ती रही है। कुलाधिपति की चयन-प्रक्रिया भी बदली गई। किसी भी विद्वान् को अब इस पद हेतु तीन वर्ष के लिए चुना जा सकता है। इन दो मुख्य संशोधनों से गुरुकुल में स्थायित्व आया।

गुरुकुल का प्रारंभ में कार्यभार सँभालते ही गुरुजन के परामर्श और सहयोग से गुरु-शिष्य परम्परा का उद्धार करने के लिए हमने श्रद्धानन्द, दयानन्द, लाजपतराय, भगत सिंह तथा नेहरू परिवारों का गठन किया और आश्रमों में दैनिक संध्या-हवन का प्रबन्ध किया। शनैः शनैः गुरुकुल का वातावरण बदला और गुरुकुल प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ। वैदिक मैगजीन को पुनर्जीवन देकर 'वैदिक पाथ' तथा गुरुकुल पत्रिका के नियमित प्रकाशन की व्यवस्था में डा० हरगोपाल सिंह तथा पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने पूर्ण सहयोग दिया। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री डा० चेन्ना रेड्डी ने ७६ के दीक्षान्त पर आकर गुरुकुल की प्रगति पर पूर्ण संतोष व्यक्त किया। इस बीच मैंने ग्रीष्मावकाश में इंग्लैण्ड, कनाडा जाने का कार्यक्रम बनाया। मैं गुरुकुल के परिपार्श्व में वहाँ के शिक्षण-संस्थानों का अध्ययन करना चाहता था। इस बीच अराजकतत्वों ने गुरुकुल पर अधिकारपूर्वक कब्जा कर लिया। विद्यालय-विभाग के प्रधानाचार्य कर्नल राजपाल को धमकी देकर पृथक् कर दिया गया। उन्हें अनुशासनबद्ध नवीन शिक्षात्मक क्रिया-कलापों के लिए विशेष रूप से विद्यालय में बुलाया गया था। गुरुकुल की दशा फिर अधर में लटक गई। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने क्योंकि इन्हें मान्यता नहीं दी, अतः जनवरी ७७ में ये लोग गुरुकुल छोड़कर चले गए। हमने गुरुकुल का ताना-बाना नये सिरे से बुना। ७७ के दीक्षान्त पर डा० प्रतापचन्द्र चंदर, शिक्षा मंत्री भारत सरकार स्नातकों को आशीर्वाद देने पधारे। मई में पुनः स्थिति में परिवर्त्तन हुआ। आयुर्वेद कालेज के पृथक्करण के लिए आन्दोलन चला। आर्य प्रतिनिधि सभा ने विवश होकर इस माँग को स्वीकार कर लिया तथा ७७ में इसका सरकारीकरण हो गया। यह वर्ष विश्वविद्यालय के इतिहास में भयंकर भूकंप लेकर आया और फिर तीन वर्ष तक विश्वविद्यालय परिसर में आतंक, त्रास तथा अमानवीय यातनाओं का जो दौर शुरू हुआ, उसका उल्लेख करते हुए सिर नीचा हो जाता है। जुलाई ८० में न्यायालय के निर्णय के बाद यह कुहरा छँटा, गुरुकुल में नये युग का प्रारंभ हुआ तथा शिक्षा मंत्रालय और अनुदान आयोग ने गुरुकुल के वास्तविक अधिकारियो को मान्यता दी। कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र के नेतृत्व में पुनः विधिवत् कार्य प्रारभ हो गया। अनुदान नियमित रूप से मिलने लगा। जुलाई ८१ में दीक्षान्त पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश श्री एच०आर० खन्ना ने स्नातकों को आशीर्वाद देते हुए जहाँ इस संस्थान की महान परम्पराओं और राष्ट्रीय सेवाओं का उल्लेख

किया वहाँ इसकी प्रगति पर प्रसन्नता भी प्रगट की। विज्ञान मेला का आयोजन प्राचार्य डा० सुरेश त्यागी ने किया, इसका उद्‌घाटन रुड़की विश्वविद्यालय के कुलपति डा० जगदीश नारायण ने किया था। इसी वर्ष विज्ञान को जनसाधारण के साथ जोड़ने के लिए डा० विजयशंकर ने 'आर्य-भट्ट' पत्रिका निकाली। प्रोफेसर ओम्प्रकाश मिश्र ने जिपनेजियम की व्यवस्था की। तत्कालीन शिक्षा सचिव और बाद को गृह सचिव श्री टी० एन० चतुर्वेदी इसके उद्‌घाटन के लिए पधारे। पुरातत्त्व संग्रहालय तथा श्रद्धानन्द संग्रहालय आज देशी-विदेशी पर्यटकों तथा शोधार्थियों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। इसकी संकल्पना का पूर्ण श्रेय डा० विनोद चन्द्र सिन्हा को है। ८२ के दीक्षान्त पर लोकसभा के अध्यक्ष श्री बलराम जाखड़ तथा ८३ में महा-महिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह जी गुरुकुल आए। प्रगति की दृष्टि से गुरुकुल अब बहुत आगे आ गया था। हमें प्रसन्नता है कि हम स्वामी श्रद्धानंद जी के स्वप्नों को साकार करने में कुछ अंशों तक कृतकार्य हो सके। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा आर्य संन्यासी डा० सत्यप्रकाश सरस्वती, डी० एस० सी० ने अपने दीक्षान्त भाषण में गुरुकुल की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा भविष्य के लिए हमारा मार्गदर्शन किया।

छटी पंचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप देने हेतु मार्च ८४ में विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग की समिति यहाँ आई, उसने गुरुकुल के लक्ष्य को समझा तथा कमियों का आकलन किया। समिति ने अनुभव किया कि गुरुकुल के पास एक सन्देश है जो विश्व भर के लिए उपयोगी हो सकता है। गुरुकुल के गुरुजन इसे फैलाने के लिए कृत संकल्प हैं। आयोग ने इसकी संस्तुति पर ५० लाख रुपये की स्वीकृति तथा दस प्रोफेसरों के पदों की स्वीकृति प्रदान की। परिसर का विस्तार हुआ। प्रोफेसरों के नवीन आवास-गृहों का निर्माण इसी योजना के तहत हो रहा है। अभी हाल में ही कई वर्ष बाद हमारे अनुरोध पर अनुदान आयोग की अध्यक्ष श्रीमती माधुरी शाह पधारीं। गुरुकुल को अधुनातन शिक्षा से संवलित करने के लिए कम्प्यूटर देने का आश्वासन भी श्रीमती शाह ने अन्य योजनाओं की स्वीकृति के साथ दिया। गुरुकुल के सभी क्रिया-कलापों, संग्रहालय, पुस्तकालय, आश्रम-व्यवस्था को देखकर उन्होंने हर्ष प्रकट किया। २५ वर्ष का योजनाबद्ध कार्यक्रम उन्हीं के संकेत पर तैयार किया जा रहा है, विशेषकर सातवीं योजना बनाने की तैयारी हो रही है जिसे शीघ्र शिक्षा पटल, कार्य परिषद् तथा शिष्ट परिषद् की स्वीकृति मिलने पर अग्रसर किया जायगा।

इधर हम नवीन स्फूर्ति लेकर भावी योजनाएँ बनाने मे व्यस्त थे कि प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी का निधन हो गया। इस हृदय-विदारक घटना से पूरा देश दहल गया। इन्दिरा जी स्वामी श्रद्धानंद की राह पर अमरलोक में चली गईं। उनकी हत्या से देश को अपूरणीय क्षति पहुँची, विश्वशान्ति

के अभियान को धक्का लगा तथा तीसरी दुनियाँ का एक भास्वर नक्षत्र अस्त हो गया। वह जोनावार्क की तरह शहीद हुई। शहादत से वह राष्ट्र-माता के रूप में प्रतिष्ठत हो गई। उन्होंने अपनी जिंदगी में बड़े उतार-चढ़ाव देखे। जिस धैर्य से उन्होंने उनका सामना किया वह अनुकरणीय है। उनके युग में देश ने कृषि, तकनीकी शिक्षा, विज्ञान, अंतरिक्ष-अनुसन्धान तथा सामरिक और सामाजिक क्षेत्रों में चतुर्मुखी उन्नति की। उन्होंने सुदृढ़ और समृद्ध भारत की नींव डाली। देश उनके बताये मार्ग पर आस्थावान् होकर आगे बढ़ेगा। श्री राजीव गाँधी ने ऐसे संकट में देश को अस्थिरता से बाहर निकाल लिया। वह योग्यमाता के योग्य पुत्र सिद्ध हुए। काँग्रेस के नेताओं ने अपनी महत्त्वाकांक्षा को छोड़कर जो गुरुवर बोझ श्री राजीव के कंधों पर डाल दिया उसे वह सफलता के साथ वहन कर सकेंगे, इसका मुझे विश्वास है। मैं सदैव आशावादी रहा हूँ और गुरुकुल के स्नातकों से अपेक्षा करता हूँ कि आशा और आस्था का दीप उनके हाथों में हमेशा आलोकित होता रहेगा।

इस अवसर पर मैं, जहाँ श्रीमती इन्दिरा गाँधी को कुलवासियों की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, वहाँ लोकतंत्र, स्वच्छ, भ्रष्टाचारमुक्त प्रशासन तथा धर्मनिरपेक्षता के लिए प्रतिबद्ध श्री राजीव गाँधी को बधाई भी देता हूँ। देश का नवयुवक 'प्रह्लाद' के रूप में खड़ा हो; बिना डगमगाए वह साधना पथ पर अग्रसर हो तथा राष्ट्र की सम्पूर्ण आकांक्षाओं की पूर्त्ति में सहायक हो, मेरी यही आकांक्षा है।

आइए, कुलपिता को नत शिर होकर हम नमन करें। उसी पुण्य नमन के साथ बलिदान-पर्व पर मैं आपका आह्वान करता हूँ—गुरुकुल को अभी और आगे ले जाना है—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
और पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे पार नहीं।

———

"गुरुकुल शिक्षा पद्धति के पुरोधा स्वामी श्रद्धानन्द"

वेद मार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
पूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

स्वामी श्रद्धानन्द महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त और महान शिष्य थे। महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व में एक अद्भुत सम्मोहनी शक्ति थी, जो भी उनके सम्पर्क में आ जाता था वही उनका अनुयायी और भक्त बन जाता था। स्वामी श्रद्धानन्द अपने यौवन-काल में ही महर्षि दयानन्द के सम्पर्क मे आ गये थे। उनका पहला नाम मुंशी राम था। वे अपने पिता के साथ बरेली में रहते थे। एक अवसर पर महर्षि दयानन्द अपने प्रचार-कार्य के प्रसंग में बरेली पधारे। युवक मुंशीराम ने भी महर्षि के भाषण सुने, युवक मुंशीराम महर्षि के भाषणों और व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुये। उन दिनों मुंशीराम की विचारधारा भौतिकतावादी थी और वें परमात्मा की सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे। महर्षि की विचारधारा ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाली पूर्ण आस्तिक विचारधारा थी। मुंशीराम ने परमात्मा की सत्ता के सम्बन्ध में महर्षि से प्रश्नोत्तर किये, महर्षि ने मुंशीराम की ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध दी गई सभी युक्तियों और तर्कों का प्रत्याख्या कर दिया। इस पर मुंशीराम ने महर्षि से कहा कि आपने युक्ति और तर्क से तो परमात्मा की सत्ता सिद्ध कर दी है और मैं निरुत्तर हो गया हूँ पर मुझे परमात्मा में विश्वास नहीं हुआ है। महर्षि ने उत्तर दिया कि बेटा! परमात्मा की कृपा से एक दिन उनकी सत्ता में विश्वास भी हो जायेगा। महर्षि के साथ इस वार्तालाप के अनन्तर मुंशीराम, महर्षि दयानन्द के परम भक्त और अनुयायी बन गये और उनकी धारणा बन गई कि महर्षि जो कुछ कहते हैं वह सर्वथा सही और सत्य है। और उनके विचारों के अनुसार चलकर ही मानव जाति का सर्वाङ्गीण अभ्युदय और कल्याण हो सकता है और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं महर्षि के विचारों के प्रचार और प्रसार में अपना समग्र जीवन और शक्ति समर्पित कर दूँगा। उनका आगामी सारा जीवन जिस रूप में विकसित हुआ, उन्होंने अपने जीवन में जो विविध प्रकार के कार्य किये, वे सब महर्षि के प्रति इसी समर्पण की भावना का परिणाम हैं।

१९१९ में अमृतसर में होने वाले राष्ट्रीय काँग्रेस के अधिवेशन में स्वामी श्रद्धानन्द स्वागताध्यक्ष थे। सम्मेलन का सभापतित्व पण्डित मोतीलाल नेहरू ने किया था। (चित्र में कुर्सी पर बैठे हुए प्रतिनिधियों में श्री नेहरू, स्वामी जी, श्रीमती एनीबेसेंट तथा पण्डित मदनमोहन मालवीय दिखाई दे रहे हैं)
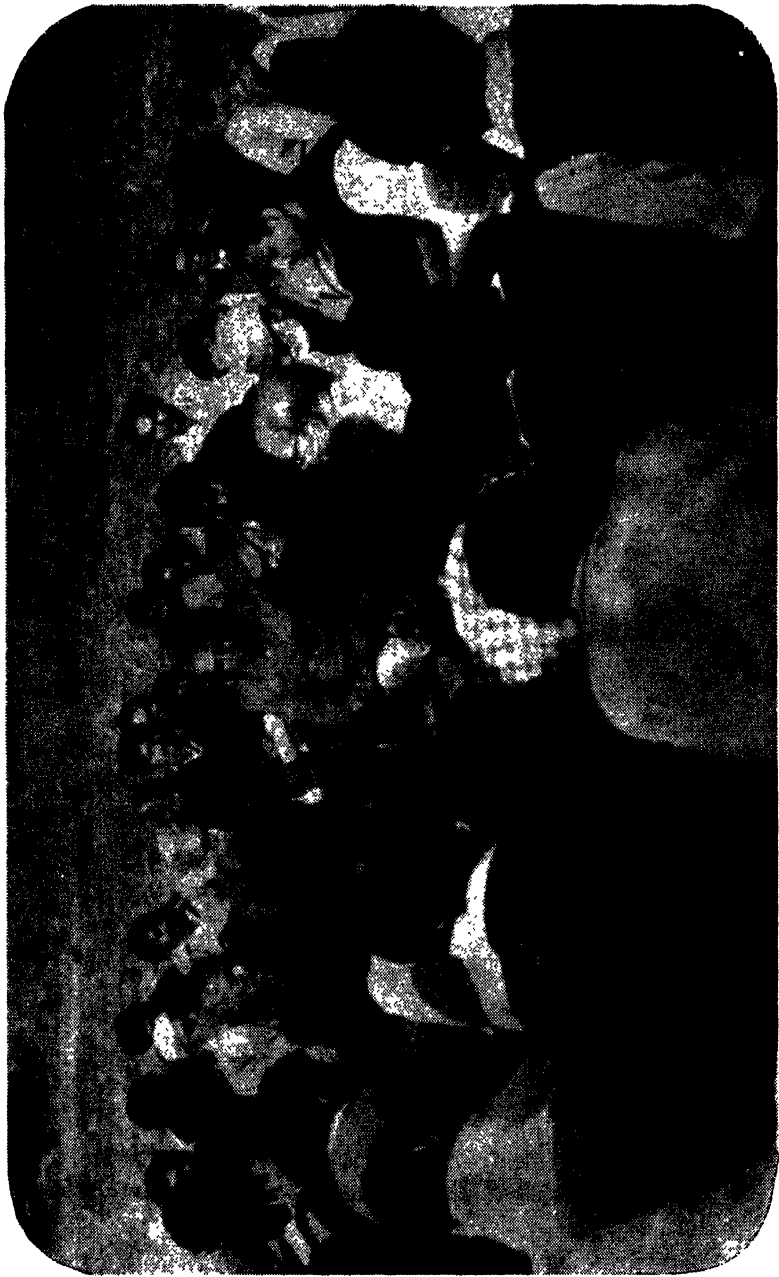
विश्वविद्यालय के शिक्षकेतर कर्मचारियों के नव–निर्माणाधीन आवास-भवन के शिलान्यास पर श्री कुलाधिपति यज्ञ करते हुए ।

महर्षि दयानन्द की विचारधारा और कार्यक्रम बहुमुखी थे। वे मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपने मौलिक विचार रखते थे और मानव को उन्हीं के अनुसार ढालना चाहते थे जिससे कि मानव सही अर्थों में आदर्श मानव बन सके।

मानव किस प्रकार का बनेगा, यह इस पर निर्भर करता है कि उसके आरम्भिक बाल्यकाल तथा यौवनकाल को किस प्रकार के विचारों और परिस्थितियों में ढाला गया है। दूसरे शब्दों मे मानव का जीवन इस पर निर्भर करता है कि उसे आरम्भ के बीस-पच्चीस वर्षों में किस प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इसके लिए महर्षि के व्यापक कार्यक्रम में शिक्षा के सम्बन्ध में भी अपना एक नवीन और मौलिक कार्यक्रम था। महर्षि की परिभाषा में उनके इस कार्यक्रम का नाम गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली है। महर्षि ने सत्यार्थ-प्रकाश और अपने अन्य ग्रन्थों में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का विस्तार से वर्णन किया है। महर्षि के विचारों के प्रचार काय और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज के अन्य विभिन्न कार्यक्रमों में जी-जान से जुट जाने के पश्चात् मुंशीराम, महात्मा मुंशी-राम कहलाने लगे थे। महात्मा मुंशीराम ने महर्षि द्वारा प्रतिपादित गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का गहराई से अध्ययन और मनन किया था तथा वे इस निश्चय पर पहुँचे थे कि मानव जाति की वास्तविक उन्नति और पूर्ण कल्याण तभी हो सकता है जब कि बच्चों को गुरुकुल-शिक्षा प्रणाणी के अनुसार शिक्षा दी जाये। यह विचार दृढ़ और परिपक्व हो जाने पर उन्होंने सन् १९०० में हरिद्वार के निकट कांगड़ी नामक ग्राम में, हिमालय की उपत्यका में, भागीरथी के तट पर जगत्प्रसिद्ध गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की।

गुरुकुल काँगड़ी में उन दिनों पूर्णरूप से ऋषि के ग्रन्थों में निर्दिष्ट पाठ-विधि के अनुसार शिक्षा दी जाती थी और छात्रों की समस्त दिनचर्या भी महर्षि द्वारा निर्दिष्ट दिनचर्या के अनुसार ही रहती थी। बालकों को पूर्णरूप से वैदिक-आर्य-संस्कृति के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया जाता था। वेद पढ़ाये जाते थे, ब्राह्मण ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे, उपनिषदें पढ़ाई जाती थीं, दर्शन पढ़ाये जाते थे, गीता और मनुस्मृति ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे, तथा महर्षि दयानन्द के अपने सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। संस्कृत भाषा की ऊँची और गहरी योग्यता के लिए साहित्य के ग्रन्थ तथा अष्टाध्यायी और महाभाष्य के रूप में व्याकरण पढ़ाया जाता था।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्य पर अत्याधिक बल दिया जाता है। महर्षि दयानन्द ने छात्रों को ऐसी सभी बातों व परिस्थितियों से दूर रखने पर बल दिया है, जिनसे छात्रों के मन में कामुकता के विचार जागृत होने को आशंका हो, इसीलिए महर्षि ने अपनी पाठ-विधि में अश्लील काव्य ग्रन्थों के

पढ़ाने का निषेध किया है। इस कारण गुरुकुल कांगड़ी में अश्लील काव्य-ग्रन्थ नहीं पढ़ाये जाते थे। विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से अश्लीलतारहित अच्छे प्रकरणों का संग्रह करके गुरुकुल अपने स्वतन्त्र पाठ्य-ग्रन्थ छपवाता था तथा पञ्चतन्त्र, रघुवंश, साहित्यदर्पण आदि के अश्लील स्थलों को निकालकर गुरुकुल उनके अपने शुद्ध संस्करण छपवाता था। और इन्हीं संशोधित संस्करणों को छात्रों को पढ़ाया जाता था।

महर्षि ने अपनी पाठ-विधि में अन्य देशीय भाषायें पढ़ाने का भी निर्देश किया है और भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों की शिक्षा पर भी बल दिया है। महर्षि के इन्हीं निर्देशों के आधार पर महात्मा मुन्शीराम ने गुरुकुल कांगड़ी में इतिहास, भूगोल, गणित, रसायन (कैमिस्ट्री), भौतिकी (फ़िजिक्स), आयुर्वेद, कृषि आदि विज्ञानों एवं अंग्रेजी भाषा के अध्यापन की भी पूर्ण व्यवस्था की थी।

उस समय के सरकारी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में केवल पाश्चात्य विषयों की ही शिक्षा दी जाती थी। उनमें पढ़ने वाले छात्र पाश्चात्य भाषा, इतिहास और अन्य विद्या-विज्ञानों में तो पारंगत होते थे परन्तु उन्हें अपने देश की भाषा, इतिहास तथा विद्या-विज्ञानों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं होता था। उनमें पढ़ने वाले छात्र शरीर से भारतीय होते हुये भी विचारों और संस्कृति की दृष्टि से यौरोपीय से बन जाते थे। उधर बनारस, गया, नदिया आदि की प्राचीन पद्धति पर चलने वाली संस्कृत पाठशालाओं में प्राचीन विषयों का ही अध्ययन–अध्यापन होता था और वह भी प्रायः काव्य, व्याकरण और दर्शनों तक सोमित रह गया था। इन पाठशालाओं में पढ़ने वालों को आधुनिक इतिहास और विद्या-विज्ञानों का बिल्कुल भी परिज्ञान नहीं होता था तथा एक प्रकार से ये लोग पुराने अंधकार युग में ही पड़े रहते थे। इस प्रकार इन दोनों प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में जो कुछ सिखाया जाता था वह एकाँगी और अधूरा होता था।

गुरुकुल में प्राचीन भारतीय विद्या-विज्ञानों की शिक्षा भी दी जाती थी और उसके साथ ही आधुनिक विद्या-विज्ञानों के शिक्षण की भी पूरी व्यवस्था थी। और इस प्रकार महर्षि दयानन्द के विचारों के अनुसरण पर महात्मा मुन्शीराम द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय और उसमें चलाई गई शिक्षा-पद्धति, शिक्षा के जगत् में एक नई क्रान्तिकारी चीज़ थी। प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर आरम्भ की गई, छात्रों के प्रतिदिन की दिन-चर्या तो शिक्षा के जगत् में एक सर्वथा नई क्रान्तिकारी वस्तु थी, जिसमें छात्र और गुरु एक घर के वासियों की भाँति एक दूसरे के निकट रहते थे,

छात्रों की सब प्रकार की गतिविधियों पर गुरुजनों की पूरी आँख रहती थी। छात्र संयम का, तपस्या का, सादगी का, शारीरिक श्रम और स्वावलम्बन का जीवन व्यतीत करते थे।

महात्मा मुन्शीराम द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय विश्व भर के शिक्षा जगत् में चर्चा का विषय बन गया था। संसार भर के शिक्षा-शास्त्री गुरुकुल को देखने के लिए आया करते थे तथा समाचार-पत्रों में उन लोगों की गुरुकुल के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक और आशाभरी टिप्पणियाँ और विवेचनायें छपा करती थीं। इस प्रकार महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) इस युग में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के एक नये पुरोधा के रूप में भारत के आकाश में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र बन गये थे।

महात्मा मुन्शीराम के जीवन का एकमात्र लक्ष्य अपने जीवन को महर्षि दयानन्द के विचारों और शिक्षाओं के अनुसार ढालना और चलाना था, वे जो कुछ कहते थे उसे अपने निजी जीवन में भी पूर्णरूप से उतार कर दिखाते थे। उन्होंने गुरुकुल की स्थापना की, और गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का प्रचार किया, तो सबसे पहले अपने पुत्रों को पढ़ने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट किया। गुरुकुल के लिए जनता से धन मांगने के लिए निकले तो पहले अपनी सारी सम्पत्ति गुरुकुल के लिए दान दे दी। महर्षि दयानन्द व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों की पद्धति के अनुसार बिताने पर बल देते थे। महात्मा मुन्शीराम ने अपने गुरु के आदेश पर चलते हुये इसी पद्धति के अनुसार अपना जीवन बिताया। गृहस्थ के पश्चात् महात्मा मुन्शीराम के रूप में उनका जीवन वानप्रस्थ का रहा, फिर उसके उपरान्त वे संन्यासी हो गये और स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से जगत् में विख्यात हुये।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने महर्षि दयानन्द के सम्पर्क में आने के पश्चात् जो अनेक महान् कार्य किये हैं, उन सबका इस लघुलेख में उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। उन्हें तो "जीवन-वृत्तान्त" तथा "आर्य समाज के इतिहास" ग्रन्थों में पढ़ना चाहिये, इन पंक्तियों में तो केवल शिक्षा के क्षेत्र में किये गये उनके कार्य का अति संक्षिप्त उल्लेख किया गया है।

नव-जागरण के प्रणेता : स्वामी श्रद्धानन्द

डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग

जब भारत के लोग पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से भ्रमित होकर अपनी संस्कृति के आधारभूत मूल्यों को ही भूल रहे थे, उस समय भारतमाता का एक सपूत उठा जिसने आर्य संस्कृति की महनीय महत्ता का सन्देश स्वामी दयानन्द से सुना था। उदात्त आदर्शों और भव्य-भावनाओं को लेकर उन्हें क्रियात्मक रूप देने को वह उद्यत हो गया। वह दिव्य पुरुष अमर बलिदानी स्वामी श्रद्धानन्द थे।

स्वामी जी का जन्म गांव तलवन, जिला जालन्धर सम्वत् १९१३ में हुआ। उनका बचपन का नाम मुन्शीराम था। सबसे छोटी सन्तान होने के कारण पिता नानकचन्द को वे सर्वाधिक प्रिय थे। यौवन, धन, सम्पत्ति तथा प्रभुत्व के प्राप्त होने पर मुन्शीराम दिग्भ्रमित हो गये, लेकिन लाहौर में आर्य समाज के उस समय के प्रधान लाला साईंदास का प्रेमपूर्ण सम्भाषण तथा मुनिवर गुरुदत्त के योग्यताभरे व्याख्यानों ने नास्तिक मुन्शीराम को परम आस्तिक बना दिया। इतना ही नहीं उनके आचरण पर लगे हुये धब्बे भी धीरे-धीरे धुलने लगे थे। मुन्शीराम के जीवन में यह महान् परिवर्तन था। वे समाज-सेवा की ओर उन्मुख हुये। उनके हृदय में यह भावना दृढ़ हो गयी कि जब तक ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये गुरुकुल की स्थापना नहीं होगी, ऋषि दयानन्द का स्वप्न पूरा नहीं होगा। गुरुकुल की स्थापना की आवश्यकता को उन्होंने प्रस्ताव रूप में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के समक्ष प्रस्तुत किया जहाँ इसे स्वीकार कर लिया गया। अपने अथक् प्रयत्नों के फलस्वरूप गुरुकुल को स्थापित करने में वे सफल रहे।

गुरुकुल शिक्षा की प्रथम विशेषता यह थी कि शिक्षा अपनी मातृभाषा के माध्यम से दी जाये। यह प्रथम मंत्र था जिसे गुरुकुल के कर्णधार ने अपनाया। मातृभाषा को प्रोत्साहन मिला। विद्वानों ने नवीन विषयों पर हिन्दी में ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ किये और नवीन विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिये 'सद्धर्म प्रचारक भेजें' जैसे हिन्दी पत्र का प्रकाशन होने लगा। देश के

स्वाधीनता आन्दोलन में गुरुकुल कांगड़ी और उसके संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द का योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। महर्षि दयानन्द से देश-प्रेम की दीक्षा लेकर सभी आर्य-नेताओं ने स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपना कुछ न कुछ अवश्य न्यौछावर किया किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द ने तो इस वेदी पर अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। ३० मार्च सन् १९१९ की घटना को भुलाया नहीं जा सकता। दिल्ली के चाँदनी चौक की विशाल सड़क पर ब्रिटिश संगीनों के सामने स्वामी जी अपनी खुली छाती तान कर खड़े हो गये। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के पश्चात् अमृतसर कांग्रेस का स्वागताध्यक्ष बनना भी कोई आसान कार्य नहीं था। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे निर्भीक योद्धा ने उस पद का भार ग्रहण किया और अत्यन्त योग्यता के साथ उसे सम्पादित भी किया।

महात्मा गांधी स्वामी जी को अपना दाहिना हाथ समझते थे। स्वामी जी ने कांग्रेस में ऐसे नेताओं का साथ नहीं दिया जो तुष्टिकरण की नीति अपनाकर हिन्दुओं को निबल बनाना ही अपना कर्त्तव्य मानते थे। स्वामी श्रद्धानन्द की भावना आर्यत्व को सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित थी। हिन्दु-मुस्लिम एकता के वे पक्षधर थे पर इस एकता को वे एकांगी नहीं उभयांगी बनाना चाहते थे। उनका निश्चित मत था कि सहयोग के हाथ दोनों ओर से बढ़ने चाहिये अन्यथा वह सहयोग स्थिर नहीं रहेगा। भारतीय इतिहास का वह दिन भी गौरवशाली बन गया है जब जामा मस्जिद की व्यासपीठ पर खड़े होकर स्वामी जी ने महानाद किया और हिन्दु-मुस्लिम एकता पर धर्म का ठप्पा लगाया। उन्होंने इस मंच से शहीदों के लिये मंगल-कामना के साथ देशभक्ति और धर्म के अटूट सम्बन्धों की घोषणा की।

सन् १९२२ में सारा देश सिक्खों के सत्याग्रह के नाद से गूँज उठा। निहत्थे अकाली वीरों पर लाठियों के क्रूर प्रहार का शब्द देश के एक कौने से दूसरे कौने तक सुनाई दिया। स्वामी जी दिल्ली में थे। अकाली वीरों के दुःख में हिस्सेदार बनने के लिये वे अमृतसर पहुँचे और अकालतख्त के पास खड़े होकर सिक्खों को सन्देश सुनाया कि आप लोगों के धर्म-संग्राम में हिन्दू आपके साथ हैं। १० सितम्बर १९२२ को स्वामी जी बन्दी बना लिये गये। परन्तु जब पंजाब के अखबारों ने शोर मचाया तो २६ दिसम्बर को स्वामी जी रिहा कर दिये गये। जेल से छूटकर स्वामी जी ने गुरुकुल कांगड़ी में आकर कुछ दिन विश्राम किया।

आगरा में राजपूत सभा की ओर से मुसलमान बने हुये जाटों तथा गूजरों को बिरादरी में वापिस लेने पर विचार चल रहा था। स्वामी जी तत्काल आगरा जा पहुँचे। काफी विचार-विमर्श के पश्चात् मूलों तथा मलकानों की

शुद्धि के लिये हिन्दू शुद्धि सभा की स्थापना की गयी। स्वामी श्रद्धानन्द जी उसके सभापति बनाये गये। स्वामी जी द्वारा चलाये गये शुद्धि आन्दोलन के कारण कुछ लोग उन पर संकीर्णता का आरोप लगाते हैं। किन्तु यह विचार दोषपूर्ण और भ्रामक है। भारतीय समाज को एक सूत्र में बाँधने का यह प्रबल प्रयास था। भ्रम, भूल और शोषण के फलस्वरूप अपने भाई हिन्दू धर्म से बाहर हो गये थे, स्नेह और प्यार से उन्हें पुनः अपने में वापस लेना किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं थी। हिन्दू जाति की पुरातन पाचन शक्ति को पुनर्जीवित करने का यह महानतम प्रयास था। दलितोद्धार और शुद्धि आन्दोलन में स्वामी जी ने जो भूमिका अदा की वह स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी।

भारत को सशक्त और समृद्धशाली बनाने के लिये स्वामी जी स्त्री-शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व देते थे। जालन्धर के कन्या महाविद्यालय की स्थापना में आपका विशेष हाथ था। बालकों के लिये गुरुकुल कांगड़ी बन जाने पर आप का बराबर यह ध्यान रहा कि कन्याओं के लिये गुरुकुल की स्थापना की जाये। ९ नवम्बर १९२३ को दिल्ली की दरियागंज, कोठी नम्बर ४ में कन्या गुरुकुल का प्रारम्भोत्सव हुआ। कुछ समय पश्चात् कन्या गुरुकुल को देहरादून ले जाया गया, जहाँ आज भी यह अत्यन्त ही कुशलता के साथ चलाया जा रहा है।

शुद्धि आन्दोलन मुसलमानों को बेतरह अखरा। एक धार्मिक मदान्ध ने उनकी हस्ती को मिटा देना चाहा, परन्तु स्वामी जी चिरकाल के लिये अमर हो गये। इस प्रकार तपस्वी श्रद्धानन्द ने धर्म पर अपना शरीर बलिदान किया। वह जैसा अन्त चाहते थे मृत्यु ने उन्हें वैसा ही दिया। भाग्य का चक्र कैसा है कि एक मुसलमान डॉ० अन्सारी जीवन भर स्वामी जी की रक्षा करता रहा और दूसरे मुसलमान अब्दुल रशीद ने उनके प्राण ले लिये।

स्वामी श्रद्धानन्द युग-पुरुष थे। साहस और त्याग के जीते-जागते उदाहरण थे। भारत की सच्ची राष्ट्रीयता के महानतम आदर्श थे, और आधुनिक नव-जागरण के प्रकाश स्तम्भ थे। स्वामो जी का भौतिक शरीर आज हमारे मध्य नहीं है, किन्तु उनकी दैदीप्तमान स्मृति हमारे अन्दर अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए नवचेतना का संचार करती रहेगी।

किसी कवि ने कहा है :—

स्वामी श्रद्धानन्द,
वे लक्ष्य पर पहुँचे,
उन्होंने सब कुछ पाया,
वह अपना काम इतिहास में बहुत गहरा अंकित कर गये,

उन्हें मेरी श्रद्धांजलि।
प्रत्येक जीवन का कोई चिह्न होता है
उनके जीवन का था चिन्ह सेवा।
उनकी स्मृति नये जीवन को जगा देवे और
राष्ट्र के युवकों में रूह फूंक देवे।
दीन-दलितों की इस सेवा के लिये जो धर्म और
आज़ादी दोनों का दिल है हम से अलग होकर भी मरे नहीं।
वे तो अब भी बोल रहे हैं।
और उन सबको जिन्हें मैं सुना सकता हूं,
उस शहीद का सन्देश सुनाना।
चाहता हूं जो इस क्षण मुझे याद आ रहा है।
यह वह सन्देश है,
जिसमें प्राचीन नवीन का अभिनन्दन करता है।
धन्य है, वह जीवन जो बलि में प्रज्वलित हो।

—*—

"परम्परागत भारतीय काव्य-चिन्तन और आचार्य शुक्ल की लोकमंगल सम्बन्धी अवधारणा"

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय

भारतीय परम्परा में 'आचार्य' उसे कहा जाता है, जो परम्परा-प्रतिष्ठ मूल प्रामाणिक वाङ्मय के साक्ष्य पर एक स्वतंत्र 'प्रस्थान' निर्मित करता है। यह नया 'प्रस्थान' बदलते हुए देश-काल और आत्मगत सम्भावनाओं के लिए तड़पती हुई लोक-चेतना की नाड़ी देखकर निर्मित किया जाता है। कवि भाव-मार्ग से लोक-हृदय से एक होकर उसे वह पहचानता है और आचार्य बोध-मार्ग से। कवि के लिए लोक-हृदय की पहचान और आचार्य के लिए लोक-चेतना की पहचान आवश्यक है। परम्परा लोक-हृदय और लोक-चेतना की व्याप्ति अति-प्राकृत स्तर तक मानती है—जबकि शुक्लजी अतिप्राकृत या अव्यक्त ब्रह्म की सत्ता मानते हुए भी उसकी व्याप्ति को प्राकृत स्तर से ऊपर नहीं ले जाते। परम्परा मानव-भाव से निहित ऊर्ध्वतम सम्भावना को चरितार्थ करने के लिए परमार्थ-दर्शन, व्यवहार-दर्शन और काव्य-दर्शन निर्मित करती है और आचार्य शुक्ल ने भी—परन्तु परम्परा या पारम्परिक चिन्तन जहाँ उन सबको अन्ततः **अतिप्राकृत मानव-भाव से जोड़ता है** वहां शुक्लजी **प्राकृत मानव-भाव** से। पारम्परिक चिन्तन अतिप्राकृत सम्भावना या गन्तव्य सिद्धि के लिए आविष्कृत कर्म-ज्ञान और उपासना का उपयोग करता है वहां शुक्लजी इन साधनों की सार्थकता प्राकृत मानवभाव की चरितार्थता में मानते हैं। पारम्परिक चिन्तन अतिप्राकृत मानवभाव की पहचान या उपलब्धि के मुख्यतः दो ही मार्ग बताता है—ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग। ज्ञानमार्ग रूक्ष स्वभाव वाले साधकों का मार्ग है—जहां वासना का दमन किया जाता है—इसे सामान्यतः निवृत्ति मार्ग माना जाता है। हीन-यानी बौद्ध, जैन और शंकर का यही मार्ग है जबकि मध्यकालीन वैष्णव या पूर्ववर्ती सात्वत अथवा भागवत मार्ग भक्ति मार्ग है—यह मार्ग द्रवशील चेतस् साधकों का है। यहां वासना का दमन नहीं—शोधन होता है। कर्म या धर्म की उपयोगिता उभयत्र है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए अपेक्षित वृत्ति या व्यवस्था (विधिनिषेधमयी) ही धर्म है। पारम्परिक चिन्तन

इस 'धर्म' का सम्बन्ध इस लोक के साथ-साथ 'परलोक और अध्यात्म'—दोनों से जोड़ता है। शुक्लजी की दृष्टि में धर्म का परलोक और अध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'धर्म' सामाजिक विकास के सन्दर्भ में उद्भूत और विकसित हुआ है। 'सूरदास' की भूमिका में वे अत्यन्त अभिनिवेश के साथ अपने पक्ष की प्रतिष्ठा प्राचीन वाङ्मय के साक्ष्य पर करते हैं। उनकी दृष्टि में उनके देशकाल सम्बन्धी परितिष्ठित मान्यता यह है कि **मानवता ही ईश्वर है और समाज-सेवा ही धर्म**। इसलिए युगानुरूप बदलती हुई लोकचेतना को दृष्टिगत कर शुक्लजी ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय के ही साक्ष्य पर अपना स्वतन्त्र प्रस्थान निर्धारित किया है। इस सन्दर्भ में पण्डित जवाहरलाल नेहरू का एक वक्तव्य अत्यन्त प्रासंगिक है—

"The modern mind, that is to say the better type of the modern mind, is practical and pragmatic ethical and social altruistic and humanitarian. It is governed by a practical idealism for social betterment. The ideals which move it represent the spirit of the age, the zeitgist—the Yugdharma. It had discarded to a large extent the philosophic approach of the ancients, their search for ultimate reality, as well as the devotionalism and mysticism of the medieval period. Humanity is its God and social service its religion. This conception may be incomplete, as the mind of every age has been limited by its environment and every age has considered some partial truth as the key of all truth......"

अर्थात् आधुनिक मस्तिष्क— मतलब आधुनिक मस्तिष्क का अपेक्षाकृत उच्चतर रूप--व्यावहारिक, यथार्थ का पक्षधर, नैतिक, सामाजिक, परार्थी और मानवतावादी है। लोकमंगल के निमित्त वह व्यवहारोपयोगी आदर्शों से परिचालित होता है। इसे परिचालित करने वाले आदर्श युगचेतना या युगधर्म का प्रतिनिधान करते हैं। इसकी दूसरी पहचान यह भी है कि यह निरपेक्ष सत्ता के प्रति दार्शनिक छानबीन, पुरातन अन्य सम्बद्ध मान्यताओं, मध्यकालीन रहस्यवाद और अतिप्राकृत तत्व-परायण भक्ति-भाव को बहुत दूर फेंक देता है। मानवता ही उसका आराध्य है और समाजसेवा ही धर्म। हो सकता है कि आधुनिक मस्तिष्क की यह अवधारणा अधूरी हो— क्योंकि प्रत्येक युग का मस्तिष्क अपने युग के परिवेश से नियन्त्रित होता है— फिर भी अंतिम सत्य से जुड़ने की सम्भावना वाले किसी न किसी व्यवहार्य सत्य की खोज करता ही है। '४३ में लिखा गया नेहरू जी का यह मंतव्य शुक्लजी पर चौकोर लागू होता है— जबकि शुक्लजी '४१ में ही दिवंगत हो चुके हैं।

शुक्लजी द्वारा प्रतिष्ठापित प्रस्थान का गंतव्य या केन्द्रबिन्दु है — लोकमंगल। पारम्परिक चिन्तन में 'लोक' की व्याप्ति इहलोक के साथ 'परलोक' तक है और भीतर की ओर चलें तो मनोमय कोश से भी बहुत आगे— पर शुक्लजी का 'लोक' केवल इहलोक है और भीतर की ओर मनोमय कोश तक। उनके लोक की यही व्याप्ति है— यही अव्यक्त का 'व्यक्त' रूप है, जो उसी की भाँति अनन्त और प्रवाह नित्य है। यह अवश्य है कि अव्यक्त अपने को 'सत्' रूप में व्यक्त करने में 'असत्' सापेक्ष हो जाता है। जैसे—'राम' का प्रकाशन 'रावण' सापेक्ष है। शुक्लजी के अनुसार व्यक्त जगत् इन्हीं विरुद्धों के ताने-बाने से बना है। उन्होंने कहा है— 'सत्' और असत्, भले और बुरे— दोनों के मेल का नाम संसार है। प्रकृति के तीनों गुणों— सत्व, रजस् तथा तमस् की अभिव्यक्ति जब तक अलग-अलग है— तभी तक उसका नाम जगत् या संसार है। अपनी अवधारणा की पुष्टि में गोस्वामी जी को उद्धृत करते हैं—

सुगुन छीर अवगुन जल ताता।
मिलइ रचइ परपंच विधाता॥

अव्यक्त और विश्वात्मा की बात बार-बार करके भी मानवीय सम्भावना की चरम परिणति व्यवहार जगत् के सामंजस्य में ही नियन्त्रित कर देना एक असंगति जैसा भी प्रतीत होता है— इसीलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी बराबर यही कहते रहे कि शुक्लजी के पीछे न तो पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शन की संगत पीठिका है और न ही ठास ऐतिहासिक आधार। यद्यपि आगे चलकर वाजपेयीजी यह भी स्वीकार करते हैं—साम्प्रदायिक और परम्परागत विवेचन पद्धति से छुटकारा पाने और एक व्यापक मानव दृष्टिकोण का संस्थापन करने में शुक्लजी समर्थ हुए हैं। आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व से अभिभूत आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, जिन्होंने उनकी चिन्तमणि को 'मंजूषा' में संजोकर रखा है, कहते हैं—'वरं विरोधोऽपि समम् महात्मभिः' की नीति से कुछ कहना दूसरी बात है और शुक्लजी की धारणा को समझने और पूरा-पूरा हृदयंगम कर लेने के आनन्तर उसका खण्डन करना दूसरी बात। फलतः वे तो कहते हैं—'उन्होंने पारम्परिक विचारधारा को पकड़ से अपना विच्छेद नहीं होने दिया।' तीसरी ओर डा० रामविलास शर्मा का पक्ष है— 'उन्होंने हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को एक ठोस दार्शनिक आधार दिया।' डा० शर्मा का पक्ष है कि यद्यपि वे सुसंगत रूप से भौतिकवादी नहीं हैं, तथापि वे विकासवाद के समर्थक हैं और उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को ठीक-ठीक समझने के लिए उन्हें वस्तुवादी ही मानना चाहिए क्योंकि वे जगत् को मिथ्या नहीं कहते।

उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में अब तक कुल छह मत मिलते

हैं— (क) वस्तुवादी (ख) आत्मवादी (ग) विधेयवादी (घ) स्पिनोज़ा का विश्वेश्वरैक्यवादी (ङ) शुद्धाद्वैतवादी (च) बुद्धिवादी ।

पहला मत डॉ० रामविलास शर्मा का, दूसरा पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश का, तीसरा नलिन विलोचन शर्मा के नाम से डॉ० रामचन्द्र तिवारी द्वारा प्रस्तावित, चौथा पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का, पाँचवां श्री रंजन सूरिदेव का और छठा स्वयं डॉ० रामचन्द्र तिवारी का । मेरा पक्ष यह है कि जब शुक्लजी अभेद दृष्टि को ही तत्व-दृष्टि कहते हैं— तब वे अद्वैतवादी हैं । सवाल यह है कि वह अद्वय तत्व क्या है ? पदार्थ या चेतन ? स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अनेकता ब्रह्म अव्यक्त और विश्वात्मा की बात करता है— वह परार्थाद्वैतवादी कैसे हो सकता है ? चिद्द्वैतवादी ही हो सकता है । चिद्द्वैतवादी भी शंकर सम्मत है या आगम-सम्मत ? जगत् को सत्य या अव्यक्त की अभिव्यक्ति मानने वाला, उसे प्रवाहनित्य सिद्ध करने वाला व्यक्ति जगत् को मिथ्या मानने वाला शंकर-सम्मत अद्वैती हो नहीं सकता । अब बचा-आगम सम्मत द्वयात्मक अद्वयवाद । इसी से शुक्लजी का सम्वाद हो सकता है । स्पिनोजा के विश्वेश्वरैक्यवाद की सम्भावना इसलिए निरस्त हो जाती है कि वहां सत्व रजस्तमोमयी प्रकृति की सत्ता नहीं जिसकी शुक्लजी बार-बार चर्चा करते हैं । विधेयवाद और बुद्धिवाद तो पद्धति मात्र हैं । इहलोक में ही भक्ति की चरितार्थता मानने वाला 'लीला-लोकवादी' शुद्धाद्वैती कैसे हो सकता है ? यद्यपि आगम-सम्मत द्वयात्मकाद्वयवाद से संवाद रखने के कारण शुद्धाद्वैतवादी बिन्दुओं का पर्याप्त आभास वहां विद्यमान है ।

द्वयात्मक अद्वयवाद आकर्षण— अपसरणात्मक शक्ति की सत्ता मूल सत्ता में मानता है— फलतः गत्यात्मक जगत् की अवधारणा की भी संगति बैठ जाती है । सृष्टि क्रम में वही शक्ति त्रिगुणात्मिका हो जाती है— जिसके नेतृत्व में उनका लोकमंगलवाद ठीक-ठीक व्याख्यात होता है । वे मानते हैं कि जगत् भिन्न गुणात्मक है और रहेगा— अतः लोकमंगल का अर्थ है— सत्व के अनुशासन में सक्रिय रजस् एवं तमस् की स्थिति । शुक्लजी कहते हैं— "जबकि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्व, रजस् और तमस् — तीनों गुण रहेंगे— तब समष्टि रूप **लोक के बीच मंगल** का विधान करने वाला ब्रह्म के आनन्द कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्व गुण के अधीन होकर इशारे पर काम करें । इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टि रूप में और सब ओर से वे सत्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे । सत्व गुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचण्डता भी सात्विक तेज के रूप में भासित होगी । इसी से हमारे यहाँ अवतार रूप में भगवान की मूर्ति एक ओर तो

'वज्रादपि कठोर' और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु' रखी गई है—

'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि'

लोकमंगल की यह अवधारणा पदार्थवादी दृष्टि से किस तरह सम्भव हो सकेगी ? कहा जा सकता है कि यदि वे आत्मवादी दार्शनिक हैं तो रहस्यवाद का विरोध क्यों ? धर्म का परलोक और अध्यात्म से सम्बन्ध क्यों नहीं ? क्या विकासवादी दृष्टि आत्मवाद के अनुरूप है ? क्या उनका ज्ञानशास्त्र आत्मवाद के अनुरूप है ? क्या उनका कर्म, ज्ञान और उपासना – अध्यात्म में पर्यवसित हैं ? क्या भक्तिरस लीलावादियों की भाँति लोकोत्तर भूमि पर चरितार्थ होता है ? फिर कैसा आत्मवाद ?

पर आत्मवादी भी पूछ सकता है कि जो विकासवादी पद्धति में डारविन के 'योग्यताभाव शेष' के सिद्धान्त की जगह स्पेंसर की 'परस्पर साहाय्य की वृत्ति' मानता है और समाजशास्त्रियों के इक़रार सिद्धान्त से मतभेद रखकर नगद् रक्षक 'करुणा' नाम के भाव के पीछे विश्वात्मा की इच्छा मानता है, रसपयोगी मुक्त हृदय को व्यापक आत्मा का अग मानता है, काव्य की सिद्धावस्था को ब्रह्म की आनन्दकला का प्रकाश मानता है और उस पर पड़े हुए अधर्म के आवरण को हटाने में साधना का सौन्दर्य देखता है— वह भूतवादी कैसे ?

क्या यह एक दुर्विचार असंगति है – जैसाकि बहुत से लोग मानते हैं ? या कोई संगति लगाई जा सकती है ? मुझे ऐसा लगता है कि शुक्लजी के व्यक्तित्व के दो घटक हैं— एक तो जन्मजात— जो भारतीय संस्कारों से घटित है और दूसरा अर्जित— जो युग-चेतना से नियंत्रित है - फलतः दोनों की टकराहट होती है। अथवा जैसे संगति लगाने के लिए शुक्लजी तुलसी को दो भूमियों पर विभक्त कर देते हैं—परमार्थतः अद्वैतवादी और व्यवहारतः द्वैतवादी — वैसे ही शुक्लजी के दर्शन को भी परमार्थतः 'अव्यक्तवादी' और व्यवहारतः **'व्यक्तवादी'** माना जा सकता है। वे कहते हैं कि 'जगत्' और 'कविता' दोनों ही अभिव्यक्ति हैं— अतः उनका सम्बन्ध 'व्यक्त' से ही है। तात्त्विक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जगत् या 'व्यवहार जगत्' का सौन्दर्य ही उनका 'साध्य पक्ष' है— उसी में मानवभाव की चरितार्थता है। उनकी दृष्टि में मानवभाव चेतना का वह विकसित रूप है, जिसमें लोक-रक्षण, पालन और रञ्जन का भाव विश्वात्मा की इच्छा से सम्भावित है। इसी सम्भावना की चरितार्थता ही मुक्ति है— जो इसी शरीर और धरा पर सम्भावित है। इसी के लिए 'लोकधर्म' की व्यवस्था हुई। यह सौन्दर्य या मंगल जिन विरुद्धों का सामंजस्य है— वे 'सत्' और 'असत्' हैं। इनमें से किसी का आत्यन्तिक उच्छेद्य हो नहीं सकता— फलतः इन्हीं के बीच से जो समंजस मार्ग निकलेगा— वह लोकमंगल विधायक होगा।

(क्रमशः)

श्यामपुर-कांगड़ी क्षेत्र की महत्वपूर्ण प्रस्तर प्रतिमाएँ

डॉ० आर०सी० अग्रवाल

(विजिटिंग प्रोफ़ेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास व पुरातत्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में हरिद्वार क्षेत्र को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। सन् १९७१ में गंगा के दाहिने तट पर भरत मन्दिर के पास खुदाई से लाल पत्थर में मथुरा शैली में उत्कीर्ण दो महत्वपूर्ण मूर्तियाँ उपलब्ध हुई थीं जो कला-सौष्ठव की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें एक तो ५० इं० ऊंची यक्षो प्रतिमा है जिसका दाहिना हाथ खण्डित हो चुका है और दूसरी लगभग ५ फुट ऊंची मूर्ति द्विबाहु ऊर्ध्वरेतस् शिव की है जिनको बौद्ध कला के प्रभावन्र्गत् स्थानक रूप में प्रस्तुत किया गया है, इनका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा है और वामहस्त में अमृत घट धारण कर रखा है। अभी तक समूचे भारतीय शिल्प-क्षेत्र में इतनी पुरानी ऊर्ध्वरेतस् शिव की मूर्ति अन्यत्र अनुपलब्ध है। काल गणना की दृष्टि से ऋषिकेश के भरत मन्दिर स्थल से प्राप्त ये दोनों मूर्तियाँ लगभग दो हजार वर्ष पुरानो तो हैं ही, इन्हें ईसा पूर्व की प्रथम शती में रखा जा सकता है और इनको प्रकाशन में लाने का श्रेय पुरातत्व विभाग भारत सरकार के अधीक्षक श्री डब्ल्यू० एच० सिद्दिकी को प्राप्त है। मथुरा संग्रहालय में भी इस आशय की समकालीन मूर्ति अद्यावधि अज्ञात है।

गंगा नदी के पूर्वी (अर्थात् बायें) किनारे पर हरिद्वार नगर से लगभग १०-१२ किलोमीटर दूर कांगड़ी (जिला बिजनौर) ग्राम बसा हुआ है जिसे आजकल श्यामपुर कांगड़ो नाम की संज्ञा दी जाती है। इसी के समीप पुण्यभूमि पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने प्रारम्भ में गुरुकुल की स्थापना की थी परन्तु कुछ वर्ष बाद गंगा की बाढ़ के कारण गुरुकुल भवन क्षतिग्रस्त हो जाने से इस महान् संस्था को हरिद्वार क्षेत्र में वर्तमान स्थल पर प्रतिष्ठित किया गया है। गुरुकुल विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्राहलय में कांगड़ी ग्राम से प्राप्त कई प्रस्तर शिला-

खण्ड व प्रतिमाएँ सुरक्षित एवं प्रदर्शित हैं जो विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। यद्यपि संग्रहालय की मार्ग-प्रदर्शिका में उनका प्रकाशन हो चुका है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री हूजा जी की प्रेरणा एवं विभागाध्यक्ष डा० सिन्हा के सहयोग से हमें कांगड़ी क्षेत्र के सर्वेक्षण का सुअवसर मिला था जिसके लिए हम इन महानुभावों एवं विभाग के सभी अध्यापकों के आभारी हैं। कांगड़ी ग्राम के पीछे जल-धारा सिद्धस्रोत आकर गंगा में मिल जाती है। यहाँ से लगभग ४ किलोमीटर दूर पहाड़ियों के बीच दो धाराओं के संगम पर ऊँचे स्थल पर पूर्व मध्यकाल (९वीं शती ई०) में यहां मन्दिर रहा होगा जिसकी नींव के सुघड़ शिलाखण्ड वहाँ आज भी विद्यमान हैं, यहाँ एक साधु महात्मा जी धूणी रमाये आसन जमाये हैं। स्थल बहुत रमणीक है।

कालान्तर में इस सिद्धस्रोत धारा के किनारे निर्मित मन्दिर की खण्डित प्रतिमाएँ स्थानिक संग्रहालय में सुरक्षित की गयीं। इनमें कुछ तो जंघा भाग की ताकें हैं यथा ललितासनस्थ अग्निदेव (संख्या १४६९।३३०,, जिनके सिर के दोनों ओर अग्नि ज्वालाएँ निकल रही हैं, सिंहारूढ़ दुर्गा (संख्या १४७०। ३३१), ललितासनस्थ दिक्पाल ईशान या यम (संख्या १४७१।३३२) क्योंकि मूर्ति के घिस जाने से वाहन अस्पष्ट है। द्विबाहु दिक्पाल भी पूर्व-मध्ययुगीन शिल्प परम्परा के अनुरूप हैं। वास्तव में इसी भाव की अभिव्यक्ति ऋषिकेश के वर्तमान भरत मन्दिर की बाहरी ताकों में उपलब्ध है जो समकालीन है और एक बाहरी ताक में चन्द्र की आकर्षक आकृति प्रस्तुत करता है। यह मूलतः सूर्य मन्दिर था क्योंकि मन्दिर के पीछे प्रधान ताक में आज भी सूर्य मूर्ति जड़ी है। यह निश्चित ही प्रतिहारकालीन है।

कांगड़ी से प्राप्त १३२०।२८५ संख्यक उत्कीर्ण शिला तो पूर्व-मध्ययुगीन शिल्प की बहुत सुन्दर कृति है— यह मूलतः लगभग ५-६ फुट चौड़ी रही होगी, जिस पर एक पंक्ति में सप्तमातृकाएँ बनी थीं। अब केवल दो विद्यमान हैं और तीसरी के हाथ में गदा तो वैष्णवी का सूचक है। इससे पूर्व की मातृका की पहचान स्कन्द कार्तिकेय की शक्ति कौमारी से की जा सकती है जिसका केश-विन्यास स्कन्द के समान है। प्रथम आकृति में देवी की गोद में शिशु की विद्यमानता मातृका भाव की द्योतक है।

विश्वविद्यालय संग्रहालय में कांगड़ी से ही प्राप्त, १३२१।२८६ संख्या पर पंजीकृत मूर्ति भी सलेटी से रंग के पत्थर पर खोदी गयी है और ईसा की १०वीं शती की कृति है। यद्यपि नीचे का भाग खण्डित है परन्तु ऊपरी भाग सुरक्षित है, जहाँ शिव भगवान को सर्वथा सर्पवेष्ठित प्रदर्शित किया गया है। उनके गले में

सर्प माला (सर्प कुण्डल) सर्प केयूर, सर्प भुजबन्द— सर्वत्र सर्प का तक्षण अति भव्य एवं अलौकिक है। भारतीय शिल्प में शिव का यह अंकन अल्पमात्रा में उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से कांगड़ी ग्राम को वर्तमान शिव मूर्ति सविशेष अध्ययन की सामग्री है।

कांगड़ी ग्राम से मध्यकालीन कुछ जैन मूर्तियाँ भी मिली हैं जिससे यह आभास ही नहीं अपितु स्पष्टरूपेण ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में जैन मन्दिर भी विद्यमान रहा होगा। संग्रहालय के १३१८।२८३, १३१९।२८४, १३२२।२८७, १३१६।२८१ संख्यक, शिलाखण्ड इसके साक्षी हैं। समीपवर्ती स्रोत से प्राप्त १६४२।४०८ संख्यक समकालीन शिलाखण्ड का ऊपरी भाग शिखर के समान है व नीचे चारों ओर ताकों में जिन तीर्थंकर विराजमान हैं जिनके आसन के नीचे उनका वाहन उनके परिचायक के रूप में उत्कीर्ण किया है। अतः सर्वतोभद्रिका नाम से पहचाने जाने वाली यह मूर्ति हरिद्वार क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यहां संभवनाथ की पहचान स्पष्ट है परन्तु चौथी ओर नीचे वाहन सिंह प्रतीत होता है जो भगवान महावीर की ओर इंगित करता है।

दिनांक ८ नवम्बर १९८४ को मुझे कुलपति श्री हूजा जी व भाई विजय शंकर जी, विभागाध्यक्ष वनस्पति शास्त्र के साथ उनकी जीप में कांगड़ी ग्राम के निरीक्षण का सर्वप्रथम सुअवसर मिला था। उस दिन श्री जयप्रकाश (कांगड़ी निवासी, वर्तमान विश्वविद्यालय में पुस्तकालय विभाग में सेवारत) के अतुल सहयोग से शिरविहीन एक कुबेर मूर्ति देखने को मिली जो ईसा की ९–१०वीं० शती की महत्त्वपूर्ण कला-कृति है ऐसी मूर्तियाँ प्राचीन भारतीय शिल्प में कम ही मिलती हैं— इसे तत्काल विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी संग्रहालय में ३८०६/४४२ संख्या पर अंकित कर प्रदर्शित एवं सुरक्षित किया गया। यहां आसनस्थ कुबेर के दाहिने हाथ में सुरा पात्र है व उन्होंने अपना बांया हाथ अपनी बायीं टांग के आगे खड़ी एवं सुराघट लिए रमणी के पार्श्व भाग से निकाल कर रक्खा है व वामहस्त से उसको तनिक अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। वह स्पष्टतया आभंग मुद्रा में संकोचवश खड़ी है और वाम जंघा की ओर झुकी हुई है। यह भाव भारतीय मूर्ति शिल्प में असाधारण है। यद्यपि मदिरा कलश लिए रमणी धनद कुबेर के पास प्रायः विद्यमान रहती है, जैसा कि गुरुकुल संग्रहालय की अन्य तत्कालीन मूर्ति (संख्या १४७४/३३५) में पूर्णतया स्पष्ट है— यहां रमणी उनकी दाहिनी टांग के पास एक ओर खड़ी है। कला सौष्ठव की दृष्टि से शिर-विहीन सद्यः प्राप्त (३८०६/४४२ संख्यक) कुबेर मूर्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वहां कुबेर को मदिरासक्त भाव में प्रदर्शित किया गया है; उनकी दाहिनी टांग के नीचे रत्नघट स्पष्टतया "धनद"

भाव का प्रतीक है यद्यपि उनके वामहस्त में नोली (रुपये की थैली, संस्कृत नकुलक) का अभाव है जो १४७४/३३५ संख्यक अन्य कुबेर मूर्ति में बायें हाथ में स्पष्टतया लिए हुए है। इस दृष्टि से गुरुकुल संग्रहालय की ये दोनों कुबेर मूर्तियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं।

कांगड़ी ग्राम के अन्दर पड़े एक चौकोर मध्यकालीन स्तम्भ भाग पर कमलदल अभिप्राय लक्षित है व ग्राम के मंदिर के बाहर विशाल देवी मूर्ति की चौकी मात्र बची है वह भी समकालीन है— यहाँ दो सिंह देवी के दुर्गा या क्षेमंकरी भाव की पहचान कराते हैं। इन्हें भी शीघ्र गुरुकुल संग्रहालय में प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

नवम्बर १९८४ के द्वितीय पक्ष में हमें कांगड़ी ग्राम से ७ किलोमीटर व हरिद्वार से लगभग १३ किलोमीटर दूरस्थ कांगड़ी–श्यामपुर–बिजनौर सड़क मार्ग पर बांयीं ओर एक टीले का निरीक्षण करने का सुअवसर मिला था। विभाग के छात्र, अध्यापकगण व डॉ० सिन्हा जी हमारे साथ थे। यह टीला बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे पूर्व भाई सुखवीरसिंह (सहायक क्यूरेटर, गुरुकुल संग्रहालय) इस स्थल से आयताकार मिट्टी का बना एक "वोटिव टैन्क" ले गए थे, जिसकी पुरातत्वीय खनन द्वारा ईसा की प्रथम चार शती तिथि मानी जा सकती हैं। इस स्थल पर चौड़ी ईंटे प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं जो पुरानी बनावट की प्रतीक हैं, नीचे एक बड़े प्रस्तर आमलक के बीच शिवलिंग रक्खा है जो लोकभाषा में कुण्डी–सोटा नाम से परिभाषित होता है। यद्यपि ऐसी कोई बात नहीं हैं, अज्ञानवश लोगों ने "आमलक" के मध्यवर्ती खण्डित भाग पर शिवलिंग लगा दिया जबकि आमलक तत्कालीन मंदिर के शिखर का भाग रहा था। ऊपर जाने पर कई लघु शिखर– आमलक खण्ड भी दिखाई दिए। जिनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ बड़े मंदिर के पास लघु देवालय भी निर्मित थे जिन्हें स्थापत्य की दृष्टि से "पञ्चायतन" शैली आंका जाता है। एक लघु देव कुलिका का लगभग ३ फुट ऊँचा चौकोर स्तम्भ तो निश्चित ही पूर्व-मध्ययुगीन (९वीं शती) है और निरादृतावस्था में पड़ा है। इसके पास एक सयोनि शिवलिंग पूजान्तर्गत है।

कुण्डी–सोटा नामक स्थल पर हमें लगभग दो फुट ऊँची एक मूर्ति भी देखने को मिली जहाँ चतुर्भुजा देवी ने अपना दाहिना पैर महिष राक्षस के सिर पर रक्खा है और वाम हस्त से पशु की पूंछ बलपूर्वक पकड़ कर उसे ऊपर उठा लिया है। नीचे के दाहिने हाथ से त्रिशूल भेद करती हुई देवी के ऊपर वाले दाहिने हाथ में खड्ग है और वामवर्ती ऊपर के हाथ में सम्भवतः "घण्टी" थी

जो प्रतिहारयुगीन महिषमर्दिनी मूर्तियों में प्रायः दिखाई देता है। इस दृष्टि से उपरोक्त मूर्ति ईसा की ९वीं शती की महत्त्वपूर्ण कृति है। यही भाव कांगड़ी ग्राम से प्राप्त संग्रहालय की १४६१/३५१ संख्यक, परन्तु तनिक बाद की, मूर्ति पर भी स्पष्टरूपेण अंकित है, जो लालढांग (बिजनौर जिला) नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। संग्रहालय की कांगड़ी ग्राम से प्राप्त अन्य खण्डित मूर्ति ३१८१/४१२ लगभग ५-६ फुट ऊँची रही होगी और ईसा की १०वीं शती की कला में महिष राक्षस का वध करती हुई प्रदर्शित है, यहां महिष की गर्दन से राक्षस निकलता हुआ दिखाई देता है; देवी की बायीं टांग का तनाव पर्याप्त आकर्षक है; दाहिना पैर राक्षस की पीठ पर रखा है व पीछे से सिंह झपट रहा है। यह मध्यकालीन परम्परा के अनुरूप है जबकि "कुण्डी सोटा" व संग्रहालय की १४६१/३५१ संख्यक प्रतिमाओं द्वारा गुप्तोत्तरयुगीन पूर्व परम्परा का बोध होता है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र की ये सभी महिषासुरमर्दिनी मूर्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण द्वारा हरिद्वार कांगड़ी क्षेत्र के प्राचीन शिल्प-कौशल की पर्याप्त जानकारी मिलती है। आशा है भावी शोध-खोज द्वारा उत्तरोत्तर प्रारम्भिक युग की अत्यधिक रोचक सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। प्रतिहारयुग में यहां परम पावना गंगा की उपत्यका में कतिपय देव-भवनों का प्राचीन भारतीय स्थापत्य एवं शिल्प में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रहा होगा।

आचार्य का स्वरूप

वेदप्रकाश शास्त्री

दृश्यमान जगत में जितना प्राचीन मानव है, उतनी ही प्राचीन उसकी संस्कृति भी है। श्रुति रूप में मानव-मात्र के कल्याण के लिए ऋषियों ने जिस ज्ञान-ज्योति का साक्षात्कार किया, उसी ने वेद संज्ञा को प्राप्त किया। यह वैदिक संस्कृति ही मानव की आदिम संस्कृति हैं, यही सनातन है, यही पुराणरूपा है तथा यही अनश्वर है। इसी संस्कृति को आर्यों की संस्कृति कहा गया है। इस संस्कृति में आचार्य का मानव-समाज की सम्पूर्ण संरचना में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि "ऋतेज्ञानान्नमुक्ति" के अनुसार मुक्ति में ज्ञान ही एकमात्र साधन है तथा ज्ञान का दाता आचार्य होता है। आचार्य ही समाज का वह ज्योतिगृह है जहां से सभी को अपने-अपने प्रशस्त-पथ का ज्ञान होता है अथवा सभी के बुद्धिदीप जिसकी सनिधि प्राप्त कर प्रकाशमान हो उठते हैं।

यह समग्र जगत शब्दज्योति के ही प्रकाश में अपने-अपने कार्य में संलग्न है। यदि शब्दज्योति न हो तो समग्र संसार तमसावृत होकर क्रियाशून्य हो जायेगा। आचार्य इस शब्दज्योति का प्रज्वालक है अतः उसका महत्त्व समाज में सर्वथा अपरिहार्य है। अथर्ववेद में आचार्य एव ब्रह्मचारी के स्वरूप को अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है, क्योकि मानव-जीवन को सच्ची एवं पूर्ण उन्नति प्रदान करने वाली वैदिक-शिक्षापद्धति का विशुद्धतम रूप वहाँ दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद में आचाय की महिमा को जिस प्रकार प्रकट किया है उससे आचार्य का वास्तविक उज्जवल स्वरूप सामने आता है। वहाँ आचार्य के पाँच रूप निम्न प्रकार से परिगणित किये गये हैं—

"आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः"

(अथर्व० ११।५।१४)

आचार्य का मृत्यु रूप— जब ब्रह्मचारी आचार्य के समीप आता है और उसका वरण कर लेता है तब आचार्य सर्वप्रथम अपने को मृत्युरूप में प्रस्तुत करता है। मृत्यु का अर्थ यहाँ यम है क्यःाक यम जिस प्रकार सभी का नियमन करता है उसी प्रकार आचार्य ब्रह्मचारी के गुरुकुल में आने से पूर्व के समस्त

कुसंस्कारों का मृत्यु बनकर भक्षण करता है। छात्र में सुसंस्कार का आधान हो इससे पूर्व उसके कुसंस्कारों का क्षय होना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने यम का अर्थ इस प्रकार किया है—"यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति, स यमः" (सत्यार्थ प्र० पृष्ठ १०)। यद्यपि यहाँ यम का अर्थ परमेश्वर को ध्यान में रखकर किया गया है तथापि यह यमवृत्ति आचार्य में भी गौणिक रूप से दृष्टिगत होती है, अतः उसको भी यम नाम से बोधित किया गया है। जिस समय आचार्य—

"वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोतं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि"
(यजु० अ० ६/मं० १४)

इस मन्त्र का पाठ करते हुए उपनीयमान ब्रह्मचारी की प्रत्येक इन्द्रिय का नामग्रहण पूर्वक कथन कर रहा होता है उस समय निश्चय ही आचार्य उसके समस्त इन्द्रियगत पूर्व दोषों का वारण कर रहा होता है। यह आचार्य का मृत्यु रूप ही कहा जाता है। अतः ब्रह्मचारी-निर्माण में आचार्य के मृत्यु रूप की सर्व-प्रथम स्तुति की गयी है।

आचार्य का वरुण रूप—द्वितीय रूप आचार्य का वरुण रूप है। वेदों में स्थान-स्थान पर वरुण को पाशजाल में बाँधने वाले तथा उससे मुक्त कराने वाले के रूप में स्मरण किया गया है। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने यद्यपि वरुण का अर्थ परमात्मा किया है तथापि उन्होंने विद्वज्जन, न्यायाधीश, आचार्य, इत्यादि भी अनेक अर्थ किये हैं। स्वामी जी के अनुसार वरुण शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है—

"यः सर्वान् शिष्टान्मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोति अथवा शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिश्च व्रियते वर्ण्यते वा स वरुणः।" (स० प्र० पृष्ठ १६)

आचार्य का शिष्ट व्यक्तियों द्वारा वरण किया जाता है। ब्रह्मचारी भी प्रथम आचार्य का वरण करता है तत्पश्चात् आचार्य उसे अपने द्वारा वरण करता है। आचार्य ब्रह्मचारी को उसके बौद्धिक, मानसिक आदि बन्धनों से मुक्त करता है तथा अपने द्वारा दी गयी बौद्धिक एवं मानसिक चिन्तना से बन्धन में बाँधता है। यही आचार्य का वरुण रूप है। जब आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय पर हाथ रखकर—

"मम् व्रते ते हृदयं दधामि मच्चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम् वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पति स्त्वा नियुनक्तु मह्यम्।"
(पा० २/२/१६)

इस मन्त्र का पाठ कर रहा होता है उस समय वह वरुण रूप का मानो साक्षात् रूप होकर अपने पाश में ब्रह्मचारी को बाँध रहा होता है।

आचार्य का सोम रूप—आचार्य का तृतीय रूप सोम का है। यद्यपि सोम के स्वामी दयानन्द जी द्वारा कृत अनेक अर्थ वैदिक कोष में उद्धृत किये गये हैं किन्तु यहाँ आचार्य से सम्बद्ध तीन अर्थ वहाँ से गृहीत किये जा सकते हैं, जैसे "सोम— ऐश्वर्ययुक्त विद्वज्जन, विद्या सम्पादक— विद्वान्, चन्द्र इव वर्तमान विद्वज्जन।"

इससे इतना तो स्पष्ट है कि सोम का सम्बन्ध आचार्य के उस रूप से है जो बौद्धिक अभ्युदय की परा कोटि पर आसीन है। सोम रूप होकर आचार्य ब्रह्मचारी के जीवन को विद्या से पूर्णतया अलंकृत करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि आचार्य का सोम रूप विशेषकर उस ब्रह्मचारी के लिए है जो ब्राह्मणवृत्ति का जीवन व्यतीत करना चाहता है, क्योंकि वैदिक परम्परा में वर्ण-व्यवस्था आचार्य द्वारा ही निश्चित की जाती थी। आचार्य ही अपने स्नातकों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य का वर्ण प्रदान किया करता था। यहाँ सोम रूप से अभिप्राय है आचार्य का ज्ञानप्रधान, तपस्याप्रधान तथा धर्मप्रधान जीवन धारण करना। आचार्य सच्चा ब्राह्मण तभी समाज को दे सकेगा जबकि वह सोम रूप होकर उसके अङ्गप्रत्यङ्ग में समा जावेगा।

आचार्य का ओषध रूप—आचार्य का चतुर्थ रूप ओषध का है। ओषध से अभिप्राय उन भौतिक भक्ष्य या पेय पदार्थों से है जिनके द्वारा व्यक्ति का शारीरिक विकास होता है। आचार्य ओषध रूप होकर ब्रह्मचारी के जीवन में क्षमता एवं शक्ति का संचार करता है। अन्य अर्थ में हम कह सकते हैं कि आचार्य जिस ब्रह्मचारी को वैश्यवृत्ति का बनाना चाहता है अथवा ब्रह्मचारी की रुचि व्यवसायिक पक्ष में अधिक दीखती है तो आचार्य उसके लिए ओषध रूप होकर उसे व्यवसायिक क्षेत्र का कुशल खिलाड़ी बनाता है। ओषध यहाँ पर सभी समृद्धिदायी भौतिक पदार्थों का संकेत करता है।

आचार्य का पयः रूप—आचार्य का पंचम रूप पयः है। पयः का अर्थ जल तथा दुग्ध स्थूल रूप में होता है। यहाँ पर कहा जा सकता है कि आचार्य को जल और दूध के गुणों से युक्त होना चाहिए। परन्तु पयः का यहाँ आचार्य पक्ष में क्या अर्थ लें इस विषय में शतपथ ब्राह्मण ने किञ्चित् मार्ग प्रशस्त किया है वहाँ पयः का अर्थ –

'क्षत्रं वै पयः" (शत ब्रा० १२।७।३।८)

इस प्रकार किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ आचार्य के क्षत्रिय रूप का वर्णन है। अर्थात् जो ब्रह्मचारी क्षत्रियवृत्ति का होना चाहता है उसे समस्त अस्त्र-शस्त्रादि में निपुण कराने के लिए पयः रूप (क्षत्रिय) होकर आचार्य को ब्रह्मचारी के जीवन में समाविष्ट होना चाहिए।

आचार्य और ब्रह्मचारी का सम्बन्ध उपनयन के बाद ही प्रारम्भ होता है क्योंकि उपनीत ब्रह्मचारी को ही आचार्य अपने गर्भ में धारण करता है। जैसे कि अथर्ववेद में—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः"

(अथर्व० ११।५।३)

यहां गर्भ में धारण करने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार माता के गर्भ में स्थित शिशु, माता के द्वारा भुक्त पदार्थ से पुष्टि प्राप्त करता है तथा माता द्वारा ही देखे गये दृश्य का दर्शन करता है, उसके ही द्वारा सुने गये का श्रवण करता है, उसी प्रकार गर्भस्थ ब्रह्मचारी भी आचार्य द्वारा अनुमोदित पदार्थ खाता है, उसके द्वारा अनुमोदित दृश्य देखता है, तथा उसके द्वारा अनुमोदित ही श्रव्य का श्रवण करता है। इस प्रक्रिया के साथ आचार्य की इच्छानुसार ही ब्रह्मचारी के चरित्र का निर्माण होता है।

आचार्य को जहाँ वेद में इतनी प्रतिष्ठा दी गयी है वहीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी उसका महत्त्व पुनः दोहराया गया है। शतपथ ब्राह्मण में "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" कहकर आचार्य को पुरुष निर्माण की प्रक्रिया में प्रतिष्ठित किया गया है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आचार्य को धर्मोपदेश द्वारा मानव का निर्माण करने वाला स्वीकृत किया गया है। एक प्रकार से हम धर्मोपदेष्टा को आचार्य कह सकते हैं, किन्तु यहाँ धर्मोपदेष्टा से अभिप्राय केवल अध्यात्म का उपदेश करने वाले से नहीं अपितु उस उपदेष्टा से है जो समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रति-मानव को ज्ञानपूर्वक कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार के सन्मार्ग-प्रेरक आचार्य के प्रति द्रोह करने का सर्वथा ही निषेध किया गया है। माता-पिता से भी अधिक महत्त्व आचार्य का है क्योंकि माता-पिता केवल शरीर का निर्माण करते हैं, आचार्य तो विद्या द्वारा पुरुष का द्वितीय जन्म करता है। यह द्वितीय विद्या-जन्म ही मानव का श्रेष्ठ जन्म है इसी आशय को आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इस प्रकार देखा जा सकता है—

"यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः।" (आप० १।१।१४)
"तस्मै न द्रुह्येत्कदाचन्।" (आप० १।१।१५)

"स हि विद्यातस्तं जनयेति ।" (आप० १।१।१६)

"तच्छ्रेष्ठंजन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः ।" (आप० १।१।१७।१८)

महाभारत में हमें आपस्तम्ब की स्पष्ट छाया दीखती है, वहाँ भी माता-पिता को केवल शरीर का जन्म देने वाला ही कहा गया है तथा विद्या का एकमात्र सम्बन्ध आचार्य के साथ जोड़ा गया है तथा विद्याजन्य जन्म को अमृत से उपमीत किया गया है, जैसाकि निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

शरीरमेव कुरुतः माता पिता च भारत ।
आचार्यतश्च यज्जन्म तत्सत्यं वै यथाऽमृतम् ।।
(महा०भा०)

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षावली के अन्तर्गत अधिविद्य प्रकरण में आचार्य को पूर्वरूप तथा ब्रह्मचारी को उत्तररूप कहा गया है । इसी प्रकार भागवत पुराण में भी ठीक उसी प्रकार का अनुसरण किया गया है, तथा आचार्य को पूर्वारणि मानकर प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है । यथा—

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् ।
विद्या सन्धिः । प्रवचनं सन्धानम् ।
(तैत्ति०शि० ३।३)

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
यत्संधानं प्रवचनं विद्या सन्धिः सुखावहा ।।
(भागवत् ११।१०।१२)

मनु महाराज ने मनु स्मृति में आचार्य द्वारा मानव समाज को प्रदत्त वर्ण व्यवस्था को ही जाति के नाम से व्यवहृत किया है । उनके अनुसार वेदों में पारङ्गत आचार्य मनुष्य की जिस जाति को निश्चित करता है, अथवा जातीय व्यवस्था प्रदान करता है वही मान्य है । इससे सिद्ध है कि माता-पिता या वंश का जाति अथवा वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है । उक्त व्यवस्था में एकमात्र आचार्य ही प्रमुख है । यथा—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवत् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा नित्या साऽजरामरा ।।
(मनु० २।१४८)

मनु महाराज ने केवल विद्यादान करने वाले को ही आचार्य नहीं कहा

है। उनके मतानुसार आचार्य को शिष्य का प्रथम उपनयन करना चाहिए तदनन्तर अल्पविद्या का नहीं अपितु समस्त वेद-वेदाङ्ग का सरहस्य ज्ञान कराना आचार्य का पूर्ण उत्तरदायित्व होता है क्योंकि मनु के मत में आचार्य साक्षात् ज्ञानमूर्ति के रूप में कहे गये हैं। यथा—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं विदुर्बुधाः॥

(मनु० २।१४०)

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः। (मनुः २।२२६)

आचार-परम्परा का आचार्य के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। आचार्य द्वारा निर्दिष्ट आचार ही समाज में प्रचलित होता है। किन्तु आचार्य को स्वयं उस आचार-परम्परा का पालक होना आवश्यक है, इसीलिए ऐतरेय आरण्यक में इसका संकेत इस प्रकार किया गया है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्त्यते॥

(ऐ०आ० ३।२।६)

लिङ्ग पुराण में आचार्य का स्वरूप शास्त्रीय अर्थों का चयन करने वाले के रूप में प्राप्त होता है। किन्तु निगूढ़ शास्त्रीय चिन्तन के साथ-साथ आचार्य को यम एवं नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। इससे यह विदित होता है कि सूक्ष्म चिन्तना के लिए यम-नियम का पालन अपरिहेय है। अन्यथा आचार्य प्रमादवश कुछ ऐसे अर्थों की परिकल्पना कर लेगा जिसके ग्रहण करने में मानव-समाज का अहित हो सकता है तथा कुछ कुप्रथाएँ चल सकती हैं।

"आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सनियमैर्युतः।" (लिङ्ग पु० २०।२)

अब तक आचार्य के स्वरूप को मुख्यतया तीन रूपों में देखा गया है। किसी ने आचार-परम्परा के साथ उसको घनिष्ट रूप में जोड़ा है, किसी ने विद्या के साथ तथा किसी ने उभय रूप में आचार्य के दर्शन किए हैं। वास्तव में आचार्य का स्वरूप सदाचारी विद्वान् के रूप में मान्य है। इसीलिए यास्क मुनि ने निरुक्त में आचार्यविषयक सभी मान्यताओं का एक स्थान पर समाकलन करते हुए जो निर्वचन किया है वह स्वयं में परिपूर्ण है तथा उसकी समस्त विद्वत्

समाज में मान्यता रही है। यास्कीय निर्वचन इस प्रकार है—

"आचार्यः कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति,
आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।"
(निरुक्त १।२)

यास्क की यह आचार्य की व्याख्या आचार्य के बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, तथा व्यवहारिक सम्भूतियों की सर्वस्वता को अपने में समाहित कर रही है।

अतः समाज में इस प्रकार के आचार्य की सर्वदा प्रतिष्ठा होनी चाहिए। प्रतिमानव का सम्पर्क आचार्य के साथ अवश्य होना चाहिए।

प्रस्तुत लेख में वर्णित आचार्य-गुणों से परिपूर्ण आचार्य का सामीप्य ही वह सोम रस है जिसके पानमात्र से अद्भुत तृप्ति होती है। आचार्य का जीवन ही वह पर्जन्य है जिसके वृष्टिबिन्दु परितप्त मानव की मनोभूमि को आशारस भरे भावाङ्कुरों से हरा-भरा कर देते हैं। आचार्य का सदुपदेश ही वह ज्ञान-सागर है जिसमें श्रद्धालुजन को विभिन्न मूल्यवान् हीरे-मोती प्राप्त होते है। आचार्य द्वारा प्रवाहित आचार-परम्परा ही वह कलकलनाद्वाहिनी सुरधुनी (गङ्गा) है जिसमें स्नान करके लाखो नर-नारी मानसिक मुक्ति के अधिकारी बनते है। आचार्य का सामीप्य ही वह पारसमणि है जिसके सम्पर्कमात्र से लौहपिण्ड भी स्वर्ण बन जाता है। आचार्य का स्नेहिल दृष्टिपात ही माता का ममता भरा हृदय है जिसमें सारा संसार वात्सल्य भाव मे निहित है। आचार्य की कृपा वह रज्जु है जिसको पकड़कर अविद्या-कूप में पड़ा व्यक्ति बाहर आकर विद्या के उन्मुक्त वातावरण में विचरने लगता है। वैदिक आचार्य की शास्त्र-दृष्टि से यदि मानव देखे, उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से यदि चले तो निश्चय ही जगत् मे मानव-जीवन से संत्रास भरी विसंगतियों का वारण होकर एक शांतिप्रदायिनी सर्वविघ्नहारिणी परम्परा का उदय होगा।

उपाध्याय, संस्कृत-विभाग

—※—

आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड के नवीन-प्रकाशित ग्रन्थ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" का विमोचन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया। (चित्र में, आचार्य जी को उत्तरीय तथा ग्रन्थ भेंट करती हुई प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी अन्य उपस्थित आर्य-बन्धुओं के साथ)

गुरुकुल परिसर में विश्वविद्यालय के शिक्षकेतर कर्मचारियों के नव-निर्माणाधीन आवास-भवन के शिलान्यास पर बोलते हुए कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी। आयोजित यज्ञ में श्री कुलपति, शिक्षक तथा कर्मचारी, विकास की सम्भावनाओं का दर्शन करते हुए।

बालक के विकास में माता-पिता एवं शिक्षकों का योगदान

चन्द्रशेखर त्रिवेदी

व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम एवं सामाजिक पर्यावरण (विशेषत: परिवार एवं पाठशाला) अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक हैं। इनमें से किसका अधिक प्रभाव पड़ता है, यह एक विवादास्पद विषय है। परन्तु बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में माता-पिता एवं आचार्य का अत्यधिक योगदान होता है। परिवार एक प्रारम्भिक पाठशाला के रूप में होता है। परिवार में रहते हुए बालक अपने माता-पिता, भाई-बहनों, गुरुजनों आदि से बहुत कुछ सीखता है। शैशव काल में अच्छे अथवा बुरे जो भी संस्कार बच्चे पर पड़ जाते हैं, वे अमिट होते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो बेद' अर्थात् जब मनुष्य को अच्छे माता-पिता एवं आचार्य मिल जाते हैं तभी वह ज्ञानी हो सकता है तथा उसमें सद्गुणों एवं उच्चस्तरीय जीवन-मूल्यों का विकास सम्भव है। यही शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त दार्शनिक एवं भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था— 'Education consists in the conquest of lower impulses by the higher altogether. Education may be summed up in the concept 'morality' । जब तक बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था में माता-पिता एवं आचार्य द्वारा अच्छे संस्कार डालने का प्रयत्न नहीं किया जायेगा, नैतिकता एवं मानवजाति को सुशोभित करने वाले अन्य सद्गुण उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि 'As the twig is bent so the tree is inclined to grow'.

प्राणी में कुछ जन्मजात शक्तियाँ होती हैं। जिन्हें हम प्राकृतिक शक्तियाँ कहते हैं। उदाहरणार्थ :- सञ्चयशक्ति, पलायन, युयुत्सा, निवृत्ति, जिज्ञासा, आत्मगौरव, रचनात्मकता आदि।

प्रत्येक प्राणी में जन्म लेने के पश्चात् उसका अनुभव संचित होने लगता है। हम जिस किसी स्थिति में आते हैं हमारे मस्तिष्क पर उसका प्रभाव स्वत: छूट जाता है। प्राणी का दूसरा गुण उसके व्यवहार का सप्रयोजन होना है। उसमें संस्कारों के सञ्चय करने की ही शक्ति नहीं होती प्रत्युत उसका प्रत्येक

कार्य सप्रयोजन होता है। कोई जीवनीशक्ति अथवा कोई प्रेरणा उसकी ज्ञात अथवा अज्ञात चेतना में बैठी हुई उसका संचालन करती होती है, इसे ही हम मन की 'सप्रयोजन क्रियाशीलता' कहते हैं। इसी आधार पर आधुनिक मनोविज्ञान में विलियम मैक्डूगल ने 'प्रयोजनवाद' की स्थापना की। तत्पश्चात् मानसिक जीवन का तृतीय पहलू 'सम्बन्ध' आता है। चूँकि प्राणी की प्रत्येक क्रिया सप्रयोजन है अतः उसमें सञ्चित संस्कार पृथक् रूप से असम्बद्ध नहीं रह सकते वे एक दूसरे से सम्बद्ध होते रहते हैं। इसी आधार पर प्रत्यय-सिद्धान्त का विकास हुआ। किसी प्रकार का अनुभव कर लेने के पश्चात् प्रत्यय मन में नहीं रहते केवल उनकी स्मृति, उनके संस्कार मन में रह जाते हैं। और यह संस्कार क्रियाशील होते हैं, और जब अनुकूल अथवा तद्रूप स्थिति सामने आती है तो वे स्पष्टतः स्फुरित हो जाते हैं। जैसा कि पर्वतराज पुत्री उमा की शिक्षा के सन्दर्भ में महाकवि कालिदास ने कहा है—

'स्थिरोपदेशामुपदेश काले प्रपेदिरे प्राक्तन जन्म विद्या'

इन प्राकृतिक शक्तियों के अतिरिक्त संकेत, अनुकरण, सहानुभूति आदि कुछ सामान्य प्रवृतियाँ भी व्यक्ति में पाई जाती हैं। यदि इन सभी शक्तियों एवं सामान्य प्रवृतियों को यथासमय उचित ढंग से विकसित किया जाय तो समन्वित एवं संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि माता, पिता एवं शिक्षक बालक के निर्माण में इन सबका किस प्रकार उपयोग करें। जैसा कि कहा गया है बच्चे में सञ्चय शक्ति होती है। माता, पिता एवं शिक्षक को चाहिये कि उसे अच्छे विचार, प्रेरणा-दायक सूक्तियाँ, अच्छी पुस्तकें पढ़ने एवं एकत्र करने के लिए प्रेरित करें। वस्तुतः बालक की प्राकृतिक शक्तियाँ एवं सामान्य प्रवृतियाँ शिक्षक का मूलधन हैं। यह ही मानव-व्यवहार का स्रोत हैं। इन्हीं के आधार पर गुरुजन बालक के व्यवहार में वाञ्छित परिवर्तन ला सकते हैं, उसे अच्छा नागरिक बना सकते हैं।

उल्लेखनीय है कि इन प्राकृतिक शक्तियों एवं सामान्य प्रवृतियों के उदित होने का कोई एक समय नहीं है। यह विभिन्न काल में प्रकट होती हैं। इनका अधिकतम लाभ उठाने के लिए प्राबल्यकाल का ज्ञान माता, पिता व शिक्षक को होना चाहिये। शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था में बालक की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती होती है। ऐसी स्थिति में माता- पिता एवं आचार्य का कर्त्तव्य है कि वे बालक के लिए आदर्श हों क्योंकि जैसा उनका आचरण होगा, बालक भी उसका अनुकरण करेंगे।

क्योंकि 'If gold ruste what shall iron do' अर्थात् यदि स्वर्ण ही दूषित है तो ताम्र एवं लोह का क्या कहना। यदि माता, पिता एवं आचार्य

का ही आचरण निन्दनीय है तो बालक का आचरण निन्दनीय होगा ही। अपने दैनिक जीवन में हम अनुभव करते हैं कि माता-पिता घर में उपस्थित होते हुए भी यदा-कदा बालक से कहलवा देते हैं 'कह दो पिताजी घर में नहीं हैं'। यह बात अपने में भले ही उतनी महत्वपूर्ण न मानी जाए परन्तु इसका बहुत ही बुरा प्रभाव बालक पर पड़ता है। वह धीरे-धीरे इसी प्रकार असत्य बोलना सीख जाता है। वयस्क होने पर वह ऐसे माता-पिता और शिक्षक को हेय दृष्टि से देखता है। अतएव बालक के साथ बहुत ही सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये जिससे उसमें किसी प्रकार के दुर्गुण न उत्पन्न हों।

इसी प्रकार जिज्ञासा बहुत ही अच्छी प्रवृत्ति है। परन्तु देखा जाता है कि माता-पिता आदि बालक द्वारा किसी बात की जानकारी किये जाने पर उसे निर्दयतापूर्वक, अज्ञानतावश डांट देते हैं, फलतः वह चुप हो जाता है। ऐसा करने से उसकी जिज्ञासा नष्ट हो जाती है और उसकी ज्ञान वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है। समन्वित एवं संतुलित व्यक्तित्व के विकास हेतु पाश्चात्य देशों में तो राजकीय स्तर पर यौन-शिक्षा तक का प्रावधान है। यथासम्भव बालक को बहुत सावधानीपूर्वक सामाजिक मान्यताप्राप्त ढ़ंग से उसकी ऐसी जिज्ञासा का समाधान करना चाहिये। उसे रूपांतरित कर देना चाहिये। इन प्राकृतिक शक्तियों एवं सामान्य प्रवृत्तियों को चरित्र-निर्माण का आधार बनाया जाना चाहिये। बालक में अच्छी आदतें डालने के लिए इनका प्रयोग किया जाना चाहिए। अच्छी आदतों का जीवन में बड़ा महत्व है। जेम्स ने तो चरित्र को विशेष प्रकार की आदतों का समूह बताया है।

बच्चे में संकेतग्रहण योग्यता उसकी सामान्य प्रवृत्ति है। यदि बालक को माता-पिता एवं शिक्षक द्वारा अविवेकपूर्ण ढग से अधिक सुझाव दिये जाते हैं तो उसकी स्वयं की रचनात्मक शक्ति का ह्रास हो जाएगा। सुझाव-संकेत बालक को मार्गदर्शन अथवा निर्देशन के रूप में होने चाहिये, इनके आधार पर वह स्वयं अपनी समस्या का समाधान करें तब तो ठीक है अन्यथा उसकी सम्पूर्ण रचनात्मक शक्ति नष्ट हो जाएगी। प्रायः देखा गया है कि लड़कों में युयुत्सा की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है। परस्पर लड़ाई-झगड़ा करना उनका स्वभाव होता है। माता-पिता, शिक्षक एवं अन्य गुरुजनों को चाहिये उनकी इस प्रवृत्ति को रूपांतरित कर दें। अन्यथा ऐसी प्रवृत्ति वाले लड़के भविष्य में अपना समायोजन सपाज में नहीं कर पाते। यदि कोई बलवान् लड़का किसी निर्बल को सताता है तो उसको इससे विरत करने के लिए शिक्षक को चाहिये कि निर्बल छात्रों की रक्षा का दायित्व उसे सौप दें।

माता-पिता एवं शिक्षकों को चाहिये कि बच्चों में सहानुभूति की भावना जागृत करें। यह तभी सम्भव है जब वे स्वयं बच्चों के साथ सहानुभूतिपूर्वक

व्यवहार करें, उनके प्रति प्यार प्रदर्शित करें। हमारे समाज में अधिकतर बालकों को शैशवावस्था में माता का दुग्ध पीने को नहीं मिल पाता। अनुसंधानों के आधार पर पाया गया है कि ऐसे बालक अपने भावी जीवन में मद्यपान करने लगते हैं। यह प्रवृत्ति हमारे समाज में पाश्चात्य देशों से आई है। परन्तु अब शनैः-शनैः वहां पर भी बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए मां का दूध आवश्यक माना जाने लगा है। अतः जहाँ तक हो सके बच्चों के प्रति दया, प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये।

रॉबिन्सन, प्रेसी, हॉरक्स, गेट्स, सोरेन्सन, स्किनर आदि शिक्षा-शास्त्रियों का सामान्य मत है कि माता-पिता के द्वारा बालक का अत्यधिक प्यार अथवा तिरस्कार किए जाने पर उसमें क्रमशः असुरक्षा की भावना एवं चिड़चिड़ापन जैसी बातें उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव बच्चे को अत्यधिक प्यार करना या उसका तिरस्कार करना दोनों ही हानिकर हैं। देखा जाता है कि जब बालक अत्यधिक सुन्दर अथवा बुद्धिमान होता है (ii) माता-पिता की एकमात्र संतान होता है (iii) माता-पिता की संतान अधिकतर जीवित नहीं रही (iv) माता-पिता वयोवृद्ध हैं अथवा (v) घर में पर्याप्त धन है, तो ऐसी स्थिति में वह परिवार के लोगों की आँखों का तारा बन जाता है। अति प्यार के कारण उसमें असुरक्षा की भावना बढ़ जाती है वह आत्मनिर्भर नहीं रह पाता। गेट्स के अनुसार हैरी नामक व्यक्ति ५५ वर्ष की आयु में अपनी माँ की मृत्यु हो जाने पर अपने को अत्यन्त असुरक्षित एवं असहाय समझता था क्योंकि उसकी माँ उसको इस आयु में भी प्यारवश हाथ से खाना खिलाती, पंखा झलती, उसे एक घंटा खेलने के पश्चात् दो घन्टे विश्राम के लिए विवश करती, स्वयं पचहत्तर वर्ष की होते हुए उसके हाथ व पैर दबाती और उसकी क्लान्ति दूर करने का प्रयत्न करती। उसके इस प्यार से हैरी की आत्मनिर्भरता नष्ट हो गई। माँ की मृत्यु के पश्चात् उसे जीवनयापन करना कठिन हो गया। अत्यधिक प्यार के यह दुष्परिणाम हुए। अतएव माता-पिता आदि को इस विषय में बहुत ही सावधान रहना चाहिए। हमारी संस्कृति में तो कहा गया है :—

लाड़येत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रमित्रमिवाचरेत्॥

इसी प्रकार जब बालक कुरूप होता है (ii) बुद्धिहीन होता है (iii) अधिक भाई-बहिन होते हैं (iv) परिवार में निर्धनता होती है तब माता-पिता द्वारा उसका तिरस्कार किया जाता है। उसकी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। फलतः उसमें चिड़चिड़ापन आ जाता है। उसमें नाना प्रकार से

हीन भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। बच्चे के सर्वतोन्मुखी विकास हेतु यह आवश्यक है कि माता-पिता एवं आचार्यगण उच्चकोटि का आदर्श बच्चों के सामने उपस्थित करें। बच्चों की क्षमताओं, शक्तियों, आवश्यकताओं आदि को भली प्रकार समझें। तभी अच्छे और संतुलित व्यक्तित्व के नागरिक देश में उत्पन्न किए जा सकेंगे।

मनोविज्ञान-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

— ※ —

छान्दोग्योपनिषद् का महत्व

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार

उपनिषत् साहित्य में छान्दोग्यापनिषत् का अपना विशेष स्थान है। प्रामाणिक एवं प्राचीन मानी जाने वाली उपनिषदों में इसको प्रथम श्रेणी में रखा जाता है, क्योंकि यह उपनिषदों में अपनी गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञान प्रतिपादन की दृष्टि से नितान्त प्रौढ़ एवं प्रामाणिक मानी जाती है। इसमें अनूठी शैली से उद्गोथ, साम, एकसूत्रता इत्यादि आध्यात्मिक तथ्यों को जिस विशेषता के साथ समझाया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बन्ध रखती है। 'छन्दांसि गायन्तीति छन्दोगा:, तेषमिमुपनिषद्' छन्द नाम है सामवेद का, उसको जो गाते हैं, वे छन्दोग कहलाते हैं। उनकी जो उपनिषद् हैं वह छान्दोग्य कहलाती है। इस उपनिषद् में सामोपासनाओं की रीति बतलाई गई है। यद्यपि वैदिक परिपाटी के विलुप्त हो जाने से आजकल उनका मुख्य तात्पर्य समझना दुर्बोध हो गया है, तथापि इस उपनिषद् का समाहित होकर मनन करने से हम इतना तो जान ही सकते हैं कि हमारे पूर्वज किस प्रकार व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि का दर्शन करते थे। वे जहाँ संसार की प्रत्येक वस्तु में उस परमेश्वर की सत्ता और महिमा को निहारते थे, वहाँ इस सकल ब्रह्माण्ड को भी उसमें ही ओत-प्रोत जानते थे।

इस उपनिषद् में कुल आठ प्रपाठक हैं, जिनमें से प्रथम पाँच प्रपाठकों में प्रधानतया उपासनाओं का वर्णन है और अन्तिम तीन प्रपाठकों में ज्ञान का। इस उपासना और ज्ञान जैसे दोनों गम्भीर विषयों को सम्यक् प्रकार से, अधिकारी की योग्यता के अनुसार, हृदयंगम कराने के लिए स्थान-स्थान पर आख्यायिकाएं एवं लोक-व्यवहार से निदर्शन भी किये गये हैं। इसके स्वाध्याय से केवल आध्यात्मिक रहस्य ही खुलते हों ऐसी बात नहीं, लोक में आपद्धर्म क्या है और इसका समाधान कैसे करना चाहिये—यह शिक्षा भी हमें इससे मिलती है। वैसे प्रथम प्रपाठक में कर्मकाण्ड में अत्यन्त मर्मज्ञ उषस्तिचाक्रायण अकाल पड़ने पर, प्राण संकट उपस्थित होने पर, इभ्यग्राम में हाथीवान के झूठे 'उड़द' खा लेना भी धर्म समझते हैं जबकि प्यास लगने पर भी वे उनका झूठा जल स्वीकार

नहीं करते, क्योंकि जल बहुतायत में प्राप्त होने से तद्विषय में मर्यादा रखी जा सकती है ।[1]

इस उपनिषद् की सत्यकाम जाबाल की कथा भी अपने में कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस कथा में जाबाल और सत्यकाम की सत्यपरायण में सत्य के अद्भुत प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति है । सत्यकाम की सत्यपरायणता ने हारिद्रुमत जैसे आचार्य को अपनी ओर ऐसा आकृष्ट कर लिया कि उसने उसे इस सत्य प्रेम के आधार पर ही ब्राह्मण कोटि में घोषित कर दिया ।

सप्तम अध्याय में सनत्कुमार एवं नारद का संवाद भी अत्यन्त विश्रुत वृतान्त है जो क्रमश: शब्दवित् से आत्मवित् होने का दिव्य-पथ है। इसी प्रकार अष्टमाध्याय में इन्द्रविरोचन का प्रजापति के समीप आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जाना और प्रजापति का शनैः-शनैः उन्हें आत्म सम्बन्धी ज्ञान कराना साधकों को अध्यात्म मार्ग में निष्ठा एवं धैर्यपूर्वक साधना में लगे रहने की प्रेरणा देता है।

इस उपनिषद् के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ऐसे हैं जिन पर शंकराचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धान्तों को खड़ा किया है। यहाँ तक कि इसमें सब तरह से साधना एवं अनुभूति सम्बन्धी ज्ञान होने पर भी यह उपनिषद् अपने भाष्यकारों, व्याख्याकारों एवं टीकाकारों आदि से एक महान दर्शन का रूप धारण कर गई है।

जीवन का मुख्य लक्ष्य परमेश्वर की प्राप्ति है जिसके लिए जगत्, जीव एवं ब्रह्म का विवेक आवश्यक है। इन तीनों का विवेक करा कर मानव को अपने चरमोद्देश्य के प्रति अग्रसर करना ही इस उपनिषद् का प्रधान कार्य है। अध्यात्म मार्ग में इस उपनिषद् का महत्वपूर्ण योगदान होने से इसका इस क्षेत्र में अपना विशेष स्थान है।

आचार्य एवं उप-कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

— ❀ —

१– न वा अजीविष्यमिमानखादन्....................कामो मे उदयमानम् ।छां० १-१०।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : व्यक्ति और आलोचक

भगवानदेव पाण्डेय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं० १९४१ की आश्विन पूर्णिमा को गोरखपुर जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। इनकी माता गाना के मिश्रवंश की थीं। इनके पिता का नाम पं० चन्द्रवली था, जो प्रबन्धक कानूनगो के पद पर कार्यरत थे। शुक्ल जी की शिक्षा का श्रीगणेश हमीरपुर जिले को राठ तहसील में हुआ। ये यहाँ के वर्नाक्यूलर स्कूल में भरती हुए। उस समय हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था केबल छठीं,सातवीं कक्षा तक होती थी पर, पिता के निर्देशानुसार ये उक्त कक्षाओं तक भी हिन्दी की शिक्षा प्राप्त न कर सके। इन्होंने आठवीं तक उर्दू, फारसी तथा नवीं में ड्राइंग पढ़ा।

लेकिन हिन्दी-प्रेम शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही था, जिससे ये पिता के आदेश का उल्लंघन करके पंडित गंगाप्रसाद से हिन्दी पढ़ते थे। नौ वर्ष की अवस्था में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। राठ से शुक्ल जी के पिता मिर्जापुर में सदर कानूनगो होकर आ गये। शुक्ल जी मिर्जापुर के जुबिली स्कूल में उर्दू के माध्यम से अंग्रेजी पढ़ने लगे और सं० १९५५ में मिडिल पास किया। शुक्ल जी का विवाह १२ वर्ष की अवस्था में काशी के पं० रामफल ज्योतिषी की कन्या से हो गया। जब ये नवीं कक्षा में थे तभी इनकी मातामही का स्वर्गवास हो गया, जिन पर शुक्ल जी की अतीव श्रद्धा थी। शुक्ल जी के व्यक्तित्व में गाम्भीर्य की निहित का एक कारण इनकी मातामही के स्वर्गवास का इन पर प्रभाव भी है। उनकी मृत्यु ने इन पर कुछ ऐसा प्रभाव डाला कि ये क्रमशः गम्भीर होते गए। मातामही की मृत्यु के पश्चात् तो बहुत दिनों तक ये हँसी-प्रसंग पर भी नहीं हँसते थे।

शुक्ल जी ने लन्दन मिशन स्कूल से स्कूल फाईनल की परीक्षा सं० १९५८ में उत्तीर्ण की तथा आगे पढ़ने के लक्ष्य से प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में एफ० ए० में नाम लिखा गया। उस समय एफ० ए० में उच्च गणित की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। शुक्ल जी गणित में बहुत कमजोर थे जिससे कि एक माह के पश्चात् इन्होंने पाठशाला छोड़ दी। गणित के अतिरिक्त सभी विषयों में शुक्ल जी का स्थान हमेशा अपनी कक्षा में प्रथम

रहता था। अन्त में ये 'प्लीडरशिप' (वकालत) पढ़ने प्रयाग गये, पर इसमें इन्हें सफलता न प्राप्त हो सकी।

शुक्ल जी को शिक्षा-काल में बहुत अधिक अर्थ-संकट का सामना करना पड़ा था, क्योंकि विमाता से इनके सम्बन्ध अच्छे न थे जिससे पिता भी इनसे खिचे रहते थे और कोई भी आर्थिक सहायता नहीं करते थे। परिणामस्वरूप इनको अपने अध्यवसाय के बल पर ही शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी। अर्थोपार्जन के लिए ये 'आनंदकादंबिनी' में अतिरिक्त समय में काम करते थे। स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री के० एन० बरुआ इनके प्रति बहुत ही कृपालु थे और इन्हें ट्यूशन दिला देते थे। इस प्रकार शुक्ल जी ने शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त करने पर शुक्ल जी ने सरकारी नौकरी की और शीघ्र ही उसे छोड़ी भी। शुक्ल जी की हस्तलिपि अत्यन्त सुन्दर थी। हस्तलिपि से प्रभावित होकर मिर्जापुर के कलक्टर विंढम साहब ने शुक्ल जी की नामज़दगी नायब तहसील-दारी के लिए कर दी। नायब तहसीलदारी की परीक्षा में शुक्ल जी अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए, अतः विंढम साहब ने नामज़दगी के साथ ही इन्हें एक अंग्रेजी आफिस में २०) मासिक पर फिलहाल नियुक्त कर दिया। लेकिन शुक्ल जी के आत्मसम्मान ने इन्हें अधिक दिनों तक टिकने न दिया। कार्यालय के प्रधान लेखक द्वारा रविवार को भी बुलाने पर इन्होंने त्यागपत्र दे दिया। यह वह समय था जब सरकारी अधिकारी किसी व्यक्ति के हृदय में आत्मसम्मान को जगने नहीं देना चाहते थे।

शुक्ल जी के लिए आत्मसम्मान जीवन का अमूल्य रत्न था, जिसे खोना मनुष्यत्व से भ्रष्ट होना मानते थे। नौकरी छोड़ने के पश्चात् प्रतिक्रियास्वरूप सं० १९५९ में शुक्ल जी ने 'इण्डियन रिव्यू' में 'ह्वाट हैज इण्डिया टू डू' नामक लेख लिखा। नौकरी त्याग के बाद सर्वत्र इनकी उपेक्षा होने लगी। पिता भी खिंचे रहते थे। अर्थसंकट के कारण सं० १९६५ में मिर्जापुर के मिशन स्कूल में २०) मासिक वेतन पर ड्राईंग मास्टरी कर ली। इस काम को शुक्ल जी ने बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया।

शुक्ल जी के साहित्य-निर्माण की दो पवित्र भूमियाँ रहीं हैं— मिर्जापुर तथा काशी। मिर्जापुर इनके साहित्य-निर्माण का आरम्भ था जिसमें काशी आने पर विकास, प्रौढ़ता और पूर्णता आई। शुक्ल जी को मिर्जापुर से विशेष प्रेम एवं लगाव था। शुक्ल जी के साहित्यिक होने का हेतु इनमें बाल्यकाल से ही उपस्थित था। माता से इन्होंने महान् साहित्यिक परम्परा का रक्त पाया था। इनकी माता गोस्वामी तुलसीदास के वंश की थीं। इनके पिता जी अच्छे काव्य-प्रेमी थे। 'प्रेमधन की छाया स्मृति' में शुक्ल जी ने लिखा है— "मेरे पिताजी

फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और पुरानी हिन्दी कविता के बड़े प्रेमी थे। फ़ारसी कवियों की उक्तियों को हिन्दी कवियों की उक्तियों के साथ मिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। वे रात को प्राय: 'रामचरित मानस' और 'रामचन्द्रिका' घर के सब लोगों को एकत्र करके, बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे।" पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में शुक्ल जी को ऐसी साहित्यिक मित्र-मण्डली मिल गई जिसमें निरन्तर साहित्य-चर्चा हुआ करती थी। इनमें—श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल, बा० भगवानदास जी हालना, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे। प्रारम्भिक काल में शुक्ल जी श्री रामगरीब चौबे से अप्रत्यक्षत: प्रभावित हुए। वे रमई पट्टी में शुक्ल जी के घर में ही रहते थे।

शुक्ल जी के साहित्यिक जीवन में काशी-आगमन एक मुख्य घटना है। सं० १६६६-६७ में 'हिन्दी-शब्द-सागर' का काम करने के लिए ये काशी आए। काशी आने पर इन्हें साहित्यिक कार्य करने के लिए सुविधाएँ एवं प्रोत्साहन मिलने लगे। शुक्ल जी की प्रतिभा के विकास के लिए क्षेत्र देने का श्रेय 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को है, क्योंकि ये अपने सर्वश्रेष्ठ आलोचक के रूप में सभा के फर्मायशी कार्यों द्वारा ही दृष्टिगत हुए। सभा की जायसी ग्रन्थावली, तुलसी ग्रन्थावली तथा इतिहास ने ही इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ आलोचक बनाया। कुछ समय तक इन्होंने 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन-कार्य भी किया।

शब्द-कोष का कार्य सम्पन्न होने के बाद इनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक पद पर हो गई। भारतीय विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा के प्रतिस्थापकों में शुक्ल जी प्रमुख थे। हिन्दी-साहित्य में इनकी गहरी पैंठ; सुलझी बुद्धि और विचारों को बोधगम्य बनाने की सरल प्रणाली ने हिन्दी की उच्च शिक्षा व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान की। बाबू श्यामसुन्दर दास के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् ये जीवन-पर्यन्त अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित रहे। शुक्ल जी श्वास रोग के मरीज थे। जाड़ों में इससे ये अधिक परेशान रहते थे। माघ सुदी ६, रविवार सं० १९९७ की रात को (९-९-३० के बीच) श्वास के दौरे के बीच सहसा हृदय-गति रुक जाने से इनका देहान्त हो गया।

शुक्ल जी बहुत बड़े आत्म-सम्मानी थे। आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए इन्होंने सरकारी एवं अलवर राज्य की नौकरी छोड़ी थी। गुलामी इनसे नहीं हो सकती थी। जिस समय ये महामना मालवीय जी की बात को न मानकर अलवर जाने लगे थे, उसी समय महामना जी ने इनसे कहा था—

कि "न अलवर ही आपके लायक है और न आप ही अलवर के लालक हैं, मगर, खैर जाइए।' वास्तव में मालवीय जी इन्हें विश्वविद्यालय नहीं छोड़ने देना चाहते थे, पर अर्थाभाव के कारण ही ये अलवर चले गये थे और एक मास के बाद ही अलवर छोड़ कर चले आए। इनके स्वाभिमान के बारे में एक कहानी प्रचलित है कि एक बार ये फटी धोती पहने बैठे थे जिस पर इनकी धर्मपत्नी ने कहा-- 'तुम अच्छी नौकरी तो करते नहीं, यहाँ ७५) रु० पर जिन्दगी बिता रहे हो।' यह सुनते ही शुक्ल जी ने तुरन्त कहा—

चाथड़े लपेटे चने चाबेंगे चौखट पर,
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार को।

आचार्य शुक्ल, जिस कारण साहित्य के क्षेत्र में निखरे रूप में प्रतिस्थापित हुए, वह थी उनकी गुण-दोष के संग्रह-त्याग की, नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति। किसी के गुण-द्वेष के पकड़ की बड़ी तीक्ष्ण प्रज्ञा थी, जिसके कारण ही ये आलोचना के क्षेत्र में सबसे अधिक सफल हुए। यद्यपि इन्होंने कहानी, कविता, अनुवाद आदि रचना के क्षेत्र को अपनाया, पर स्थिरता आकर इन्हें आलोचना में ही मिली। आलोचना के क्षेत्र में आज भी शुक्ल जी ही आधार एवं मापदण्ड हैं। सभी आलोचक आलोचना लिखते समय एक बार अवश्य ही, चाहे पक्ष में अथवा विपक्ष में, शुक्ल जी का नाम अवश्य लेते हैं। आलोचक शुक्ल जी का प्रधान गुण है उनका गम्भीर व्यक्तित्व, जिसकी छाप उनकी रचनाओं, प्रधानतः निबन्धों तथा आलोचनाओं में मिलती है। इस गाम्भीर्य के साथ ही उनमें एक अन्य विरोधी गुण था-- हास्य, व्यंग्य और विनोद की प्रवृत्ति।

शुक्ल जी का कार्य अधिक गम्भीर और विशद था। इन्होंने नवीन साहित्यिक विचारधारा को सुश्रृंखल स्वरूप प्रदान किया। इन्होंने जायसी, सूर, तुलसी जैसे महाकवियों के काव्य को एक नवीन विवेचना द्वारा प्रस्तुत किया जो नवीन होते हुए भी प्राचीन कवियों के प्रति अत्यन्त उदार थी। इससे शुक्ल जी ने प्राचीन काव्य और उसमें व्यक्त संस्कृति को समादर की वस्तु बनाकर अत्यधिक लाभान्वित किया। शुक्ल जी की दृष्टि सदैव विचारों और सिद्धान्तों के क्षेत्र में बुद्धिवादी थी। बौद्धिक धरातल पर तौलकर ही ये किसी सिद्धान्त की स्थापना या मान्यता स्वीकार करते थे। ये विकासवाद के सिद्धान्त को मानते थे। इनके सिद्धान्तों और विचारों में लोक-भावना अथवा लोक-सिद्धान्त प्रमुख हैं। लोक-सिद्धान्त के आधार पर ही इन्होंने अपना काव्य-सिद्धान्त स्थिर किया है। इनकी लोकवाद की भावना व्यापक, उदार और सर्वदेशीय है, पर यह निरर्थक नहीं अपितु नियंत्रित और सार्थक है।

युग में प्रचलित विचारों से व्यक्ति अछूता नहीं रहता। प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप में वह अवश्य प्रभावित रहता है। आलोचक भी परिवेश को ध्यान में रखकर अपनी अभिव्यक्ति करता है। यद्यपि कवि एवं 'सहृदय' के कर्म भिन्न-भिन्न अवश्य हैं लेकिन आलोचक का कवि-सुलभ गुणों से युक्त होना अनिवार्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे ही व्यक्ति थे। उनमें रचनात्मक शक्ति के साथ ही आलोचनात्मक शक्ति विद्यमान थी। उन्होंने निबन्ध, कविता आदि के साथ ही आलोचनाएँ भी लिखीं जिसमें उन्हें विशेष सफलता मिली।

आलोचक कवि की तरह अपनी मन की तरंग में नहीं लिखता। आलोचना मन की गंभीर स्थिति का परिणाम है, जिसमें बुद्धि के साथ हृदय भी लगा रहता है, पर विषय का विवेचन सापेक्ष्य होने के कारण बुद्धि का नियंत्रण चलता है। वास्तव में आलोचना बुद्धि-पक्ष- प्रधान कर्म है। आलोचना के लिए गांभीर्य, बुद्धि-पक्ष की प्रधानता तथा अध्ययनशीलता अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य शुक्ल इन्हीं गुणों के कारण हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हो सके। उन्होंने अपनी विवेचना-शक्ति के द्वारा हिन्दी-आलोचना को सत्य और सुव्यवस्थित मार्ग पर सर्वप्रथम लगाया जिससे ये आलोचना के प्रथम प्रतिस्थापक कहे जाते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में आलोचना का जो स्वरूप मिलता है वह आधुनिक आलोचना से भिन्न था। प्राचीन आलोचक किसी कवि पर अपने विचार सूत्र-रूप में एकाध श्लोक में व्यक्त कर देते थे। लक्षण-ग्रन्थों में एक आचार्य दूसरे आचार्य द्वारा निर्मित लक्षण का खंडन-मंडन करता था। ऐसी आलोचना व्यावहारिक आलोचना कहलाती थी। बाद में भारतीय रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि से सैद्धान्तिक आलोचना शुरू हुई।

हिन्दी में 'सच्ची समालोचना' के आरम्भक श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' तथा श्री बालकृष्ण भट्ट माने जाते हैं। इन लोगों ने सं० १९४२–४३ में अपनी-अपनी पत्रिकाओं—'आनंद-कादंबिनी' और 'हिन्दी-प्रदीप' में इसका आरम्भ किया था। 'प्रेमधन' जी ने 'वंगविजयता' की आलोचना की थी और भट्ट जी ने प्रेमधन जी के साथ 'संयोगिता स्वयंबर' की आलोचना अपनी-अपनी पत्रिकाओं में की। इन आलोचनाओं में आलोचकों की दृष्टि गुण-दोष दर्शन के साथ कहीं-कहीं विवेचन पर भी उद्घाटित हुई है। उस युग के अनुसार आलोचना के गुण इन लोगों में विद्यमान थे। आगे चलकर मिश्र बन्धुओं (श्री श्यामबिहारी मिश्र तथा श्री शुकदेवबिहारी मिश्र) ने 'हम्मीर हठ' की आलोचना लिखी। अपने आरंभिक रूप में हिन्दी-आलोचना केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में थी। उस समय जो आलोचनाएँ होती थीं, वे प्रायः किसी

पुस्तक को लेकर ही, पत्रिकाओं में संपादकों द्वारा ही की जाती थी। उनको पुस्तकीय तथा व्यवस्थित रूप नहीं मिल पाया था।

हिन्दी में पुस्तकाकार में आलोचना का प्रादुर्भाव सं० १९५८ में (सन् १९०१) श्रीगणेश द्विवेदी जी की 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' से होता है जिसमें "लीला सीताराम बी० ए० के कुमारसंभव, ऋतु संहार, मेघदूत और रघुवंश भाषा विषयक विचार" थे। द्विवेदी जी के बाद मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा आदि की आलोचनाएँ आईं जिनमें कुछ-कुछ पक्षपात की प्रवृत्ति के दर्शन हो सके। बाद में इसी शैली के आलोचक श्रीकृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना कवियों की विशेषताओं की परिचायिका तथा मार्मिक है, जिसमें विवेचना की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। बाबू श्यामसुन्दर दास सर्वप्रथम सन् १९२०-२१ में सैद्धान्तिक आलोचना की ओर अग्रसर हुए और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर—'साहित्यालोचन' प्रस्तुत किया। इस समय तक आलोचना का प्रवाह कुछ अग्रसर हो रहा था जिसमें गुण–दोष–निदर्शन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं के निरूपण की प्रवृत्ति मिलने लगती है, पर इनकी संख्या सीमित थी। इस समय तक की आलोचनाओं में विवेचनात्मक आलोचना का सच्चा स्वरूप नहीं था जिनमें कि समालोच्य साहित्यकार की कृतियों का निरूपण देश-काल की परिस्थिति के अनुसार किया जाता है तथा जिसमें आलोच्य के विचारों का ध्यान रखा जाता है। इस वास्तविक विवेचनात्मक आलोचना का आरंभ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। उनकी तुलसी, सूर, जायसी की आलोचनाओं में आलोचना के विवेचनात्मक स्वरूप के दर्शन हमें मिलते हैं।

कोई आलोचक किसी कवि या कृति पर विचार करते समय अपनी रुचि को अलग नहीं कर पाता। समर्थ और शिष्ट रुचि वाला आलोचक अपने लिए आलोचना के कुछ सिद्धान्त निर्धारित करता है जो उसकी आलोचना के आधार होते हैं। यही कारण है कि आलोचक मीमांसक भी होते हैं। वे साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना दोनों प्रस्तुत करते हैं। आचार्य शुक्ल इसी श्रेणी के आलोचक थे। इन्होंने आलोचना के साथ ही काव्य के सिद्धान्त भी निर्धारित किए। उनके कुछ अपने काव्य-सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर उनकी आलोचनाएँ खड़ी हैं। वे हिन्दी के प्रथम आलोचक हैं, जिन्होंने काव्य-सिद्धान्त के साथ ही आलोचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इनके पहले जितने भी आलोचक थे उनका आधार संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में निर्धारित काव्य-सिद्धान्त थे। वे प्राचीन सिद्धान्तों से चलकर लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे। आचार्य शुक्ल ने अपना सिद्धान्त स्थापित किया और उसके अनुसार लक्ष्य की ओर चले।

समीक्षक को सहृदय होना चाहिये, क्योंकि उसे समानधर्मा बतलाया जाता है, फिर भी उसका क्षेत्र भिन्न है। कुछ आलोचक कवि भी होते हैं, आचार्य शुक्ल ऐसे ही आलोचक थे। संस्कृत के आचार्यों ने कवित्व और समीक्षकत्व को समान देखकर कवि और समीक्षक में अभेद माना है। पर, राजशेखर, स्वरूप और विषयभेद के कारण कवित्व एवं भावकत्व में भेद मानते हैं, क्योंकि समानधर्मा होते हुए भी कवि-कर्म रचनात्मक है और आलोचक का कार्य विवेचनात्मक; कवि में रचना-शक्ति प्रधान होती है और समीक्षक में भाविका-शक्ति।

पाश्चात्य समीक्षकों ने आधुनिक आलोचना पर ध्यान दिया है। अंग्रेज समालोचक एवरक्रोम्बी के अनुसार आलोचक में मर्मभेदिनी काव्य-दृष्टि, कवि और काव्य के प्रति सहानुभूति, कवि की मनोदशा समझने के लिए काल्पनिक ग्राह्यता, व्यावहारिक ज्ञान, नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति तथा ऐसे ही अन्य गुण होने चाहिए। आलोचक में निरीक्षणशक्ति तथा व्यापक काव्यमर्मज्ञता आवश्यक है। आलोचना को आचार्य शुक्ल हमेशा एक गंभीर कार्य मानते रहे हैं और इसके लिए अध्ययन, मनन, और निरीक्षण, मार्मिक काव्यदृष्टि आदि को आवश्यक माना है। शुक्ल जी में अध्ययन, मनन और चिन्तन की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है, यही कारण है कि साहित्य के संबंध में विचारपूर्वक सिद्धान्त की विवेचना एवं स्थापना उनकी रचनाओं में आरम्भ से ही मिलती है।

हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के ऐतिहासिक महत्त्व, उनकी साहित्य-चिन्तना शक्ति, उनकी विषयविधान-विशिष्टता आदि विशेषताओं का विशिष्ट महत्त्व रहा है। आचार्य शुक्ल ऐसे आलोचक थे जिन्होंने अपना एक मौलिक निकाय स्थापित किया है। जिसके माध्यम से चलकर वह सुलझी बुद्धि और परिष्कृत हृदय द्वारा साहित्य-चिन्तन के लक्ष्य तक पहुँचे हैं और निर्णीत लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर इतना प्रभूत और मान्य कार्य किया है कि साहित्य पर उनकी अमिट छाप पड़ गई है जिससे कि अनेक साहित्यकार उनके अनुगामी हो गए हैं। इसीलिए उन्हें (शुक्ल जी को) एक सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक माना जाता है, जिस पर उनके अनुगामी चलकर उनकी मान्यताओं का प्रतिपादन, समर्थन और विकास करते हैं। इस निकाय के प्रमुख एवं मान्य आलोचकों में पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० राजबली पाण्डेय, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि आते हैं। यद्यपि शुक्ल जी के समानान्तर चलने का बहुत से आलोचकों ने दुस्साहस किया है फिर भी 'दूसरी परम्परा की खोज' आज भी जारी है। और आचार्य शुक्ल के बाद 'दूसरी परम्परा की खोज' अंधेरे में भटकनामात्र सिद्ध हो रही है।

—उपाध्याय, हिन्दी विभाग

परिसर परिक्रमा

दयानन्द निर्वाण-शताब्दी व्याख्यानमाला

गुरुकुल कांगड़ी परिसर में दयानन्द निर्वाण-शताब्दी व्याख्यानमाला का शुभारम्भ उत्साह के साथ हुआ। ३० अगस्त १६८४ को प्रथम उद्घाटन व्याख्यान देते हुए पंजाब विश्वविद्यालय की 'दयानन्द पीठ' के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ० भवानीलाल भारतीय ने आर्य समाज की उपलब्धियों और सीमाओं पर तथा स्वामी दयानन्द के विचार आधुनिकता की कसौटी पर, विस्तार से प्रकाश डाला।

डॉ० भारतीय यहाँ नगर के शिक्षा-शास्त्रियों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों तथा सांस्कृतिक मंचों के प्रतिनिधियों की भारी सभा को सम्बोधित कर रहे थे। उन्होंने कहा कि भारत की राष्ट्रीय जागृति में आर्य समाज का शानदार योगदान रहा है। राजनीतिक जीवन में जो ह्रास तथा जीवन-मूल्यों का विघटन दिखाई दे रहा है, उसके लिए आर्य समाज को एक जोरदार अभियान चलाना होगा। सार्वजनिक जीवन का शुद्धिकरण आज की प्रमुख आवश्यकता बन गया है। हमें यह स्मरण करना होगा कि आर्य समाज को जो प्रारम्भ में सफलता मिली उसका प्रमुख कारण आर्य समाजियों का उदात्त एवं आदर्श चरित्र ही था। स्वामी दयानन्द ने सत्यधर्म की स्थापना की थी। वह उदार तथा मानवतावादी विचारक थे। दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता का निवारण आर्य समाज की सामाजिक क्रान्ति के ध्वजवाहक रहे हैं। आर्य समाज मानव समुदाय की एकता का पक्षपोषक रहा है। उसकी दृष्टि में जन्म, रंग, प्रांत, देश, लिंग आदि के आधार पर भेद-भाव की जो रेखाएँ उभर आई हैं वे सर्वथा कृत्रिम हैं तथा मानव समाज की उन्नति में बाधक हैं। उसकी तो यह धारणा रही है कि प्रत्येक वर्ग को शिक्षा-संस्कार तथा सदाचार की दृष्टि से उन्नत बनने का अवसर मिलना ही चाहिये। भारतीय समाज को विषमता, पार्थक्य तथा भेदभाव के वात्याचक्र से मुक्त कर स्वतंत्रता, समता तथा बन्धुत्व का स्वस्थ वातावरण प्रदान करना आर्य समाज का लक्ष्य रहा है। इतना होने पर भी यह देखना चाहिये कि आर्य समाज के आन्दोलन में शैथिल्य, हताशा और दिग्मूढ़ता का समावेश क्यों और कैसे हुआ? आर्य समाज का तर्काश्रित धर्म और बुद्धिवाद से प्रबोधित मतवाद लोग क्यों स्वीकार न कर सके? भाव प्रवण निराकारोपासना की सामान्य विधि के अभाव, योगमार्ग की व्यापक शिक्षा की कमी,

वैदिक वाङ्मय तथा वेदांगों, उपांगों का दयानन्दसम्मत अर्थ-भाष्य की उपेक्षा तथा प्रचार प्रणाली की जड़ता के कारण हमारा लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। दयानन्द के सूत्रों को पकड़ कर वेदों की व्याख्यान प्रणाली हम निश्चित करें तथा उससे आधुनिक समस्याओं का निदान खोजें। वेदों के पारमार्थिक तथा व्यावहारिक पक्षों का उद्घाटन कर सर्वप्रथम, स्वामी जी ने ही वेदार्थ-चिन्तन की युगान्तरकारी धारणा विश्व को दी थी।

सभा की अध्यक्षता करते हुए कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने कहा कि आज विश्व जिन विस्फोटक स्थितियों से गुजर रहा है, उनसे मानवधर्म, लोकतंत्र, सामूहिक उन्नति, चारित्रिक-मूल्य तथा राष्ट्रीय एकता को खतरा पैदा हो गया है। अतः इन जटिल समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में स्वामी जी के कार्यों का मूल्यांकन होना चाहिये। स्वामी जी भारतीय नवजागरण के अग्रदूत थे तथा समाज-सुधार, शिक्षा, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति, स्वतंत्रता, स्वराज तथा धार्मिक नवोत्थान की उन्होंने ही सर्वप्रथम परिकल्पना की थी। आत्मिक तथा भौतिक उन्नति का ऐसा संतुलित उपाय इतने विशद् और व्यवहारिक स्तर पर महर्षि से पूर्व किसी समाज-सुधारक तथा युग-द्रष्टा ने नहीं दिया था।

इसी क्रम में दूसरा व्याख्यान ३१ अक्तूबर १९८४ को आयोजित किया गया। आमन्त्रित व्याख्याता थे, सुप्रसिद्ध विचारक डा० प्रभाकर माचवे। डा० माचवे स्वयं उपस्थित न हो सके। किन्तु उन्होंने अपना चौंतीस पृष्ठों का व्याख्यान 'दयानन्द, गाँधी और मार्क्स' भेज दिया। डा० माचवे ने बताया कि दयानन्द के स्पष्ट विचार थे कि किसी भी समाज में आवश्यकता से अधिक धन का जमाव ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह तथा घृणा पैदा करता है। उनका कहना था कि पूंजी ही विलासिता की जननी है अतः उसका सामाजिक सत्कार्यों के लिए विनियोग आवश्यक है। श्रम और दान जीवन के प्रमुख अंग हों। स्वामी जी विदेशी भाषा तथा विदेशी सत्ता के प्रखर विरोधी थे। उनके आर्य समाज ने अध्यवसाय, मितव्ययिता, दूरदर्शिता तथा निर्व्यसनशीलता का जीवन में मूल्यों की तरह प्रचार-प्रसार किया जबकि गाँधी जी इस अर्थ में समाजवादी थे कि अन्तिम व्यक्ति तक सर्वोदय हो। वे भी देश को साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शोषण के पंजे से मुक्त कराना चाहते थे। वे जनसाधारण में विश्वास करते थे। उनके समाजवाद का अर्थ था— सर्वोदय। वह अंधों, बहरों तथा गूंगों की राख पर नहीं खड़ा होना चाहते। वह समाजवाद में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हामी हैं। उनके अनुयाई कई परस्पर विरोधी विचारधाराओं वाले थे, क्राँतिकारी, आंतकवादी, लिबरल नरमदल वाले भी। अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म, अध्ययन, नास्तिकता, धर्म-विरोध— सभी पर गाँधी जी ने एक निपुण भारतीय किसान या मजदूर की दृष्टि से विचार किया था। डॉ० माचवे ने बताया कि स्तालिन

तथा मार्क्स में क्या अन्तर है ? हिन्दी प्रदेशों में मार्क्सवाद क्यों विलम्ब से आया तथा मानवेन्द्रराय की दृष्टि में मार्क्स क्या थे ? आज के भारत को ध्यान में रखकर शस्त्र और शास्त्र विरोध, धर्म और धर्मनिरपेक्षता, रुढ़ि और पाखण्ड-खण्डन, मतवाद और समाज- विकास पर पुनर्विचार आवश्यक है। अन्यथा सही अर्थ में न तो 'सत्य के अर्थ पर प्रकाश' पड़ेगा, न 'पूंजी' की गुलामी से मुक्ति मिलेगी, न 'हिन्दस्वराज्य' और 'नवजीवन' के लाभ 'हरिजन' को भी मिल सकेंगे। उन्होंने इस चर्चा में १८२४ से १६४८ यानी दयानन्द सरस्वती के जन्म से गाँधी के महानिर्वाण की शती की भारतीय चेतना को उजागर किया और यूरोप में और विश्व में कार्लमार्क्स के वैचारिक प्रभाव की चर्चा की।

गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने कहा कि तीनों विद्वानों के विचारों और कार्यों की परिणति देखकर उनके कार्यों की महत्ता आँकनी चाहिए। इस दृष्टि से तीनों अपने लक्ष्य में सफल हुए हैं। भूतपूर्व कुलपति आचार्य प्रियव्रत ने कहा कि दयानन्द को मार्क्स जैसे समर्पित अनुयाई नहीं मिले फिर राज्यसत्ता हथियाने की बात मार्क्सवादियों की तरह, दयानन्दवादियों ने कभी सोची भी नहीं। दिनमान के पूर्व सम्पादक श्री श्यामलाल शर्मा ने माचवे जी की एम०एन० राय विषयक धारणा का खण्डन किया। इस बहस में अनेक स्थानीय महाविद्यालयों के अध्यापकों, पत्रकारों तथा शोध-छात्रों ने भी भाग लिया। बहस की प्रस्तावना में कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने बताया कि राष्ट्रहित में समर्पण, श्रम और दान की वृत्ति वैदिक साम्यवाद का मूल है। भारतीय समाज में सभी वर्ग समान महत्त्व के हैं, यह ठीक है कि वर्ग वैषम्य के कारण अभी वह स्थिति नहीं आ पाई जिसकी कल्पना दयानन्द ने की थी। दयानन्द के इस अध्यात्मप्रेरित साम्य सिद्धान्त को श्रद्धानन्द (१८५६-१६२६) तथा गाँधी (१८६६-१६४८) ने आगे बढ़ाया और कालान्तर में उदारतावादी सुधारकों को उनसे प्रेरणा मिली।

सामाजिक-आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए मार्क्स के अनुयाइयों को बहुत दूर तक सफलता मिली है पर विचार-स्वातंत्र्य तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ज्योति वहाँ निष्प्रभ हुई है। भारत में धार्मिक-सामाजिक संगठन के लिए विचार तो हुआ है, पर व्यावहारिक स्तर पर ऊँच-नीच, छुआछूत की भावना पर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त की जा सकी। दयानन्द और गाँधी की अध्यात्मप्रेरित लोकक्रान्ति अभी शेष है तथा बुद्धिजीवियों के लिए यह एक सामयिक चुनौती है।

दोनों व्याख्यानों का संचालन हिन्दी-विभाग के रीडर डॉ० विष्णुदत्त राकेश ने किया।

—भोपालसिंह
एम०ए०, हिन्दी (प्रथम वर्ष)

विश्वविद्यालय द्वारा संचालित प्रौढ़-शिक्षा के प्रगति-क्रम का निरीक्षण

२४ जुलाई सन् १९८४ ई० को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के पुस्तकालय भवन में प्रौढ़ शिक्षा की सलाहकार समिति की बैठक सम्पन्न हुई, जिसकी अध्यक्षता माननीय कुलपति जी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार ने की। इसमें प्रौढ़ शिक्षा के संचालन, प्रसार, प्रबन्ध तथा प्रशिक्षक-प्रशिक्षण संबंधी विभिन्न विषयों पर निर्णय लिया गया जोकि प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार और प्रसार में सहायक सिद्ध हों, तथा ऐसे कारगर उपायों पर भी विचार किया गया जिसमें गांव वाले अधिक से अधिक रूचि लें। और इसी सलाहकार समिति ने प्रौढ़ शिक्षा की कार्यकारिणी का भी गठन किया गया।

२८ जुलाई सन् १९८४ ई० को "प्रौढ़ शिक्षा" कार्यकारिणी की बैठक माननीय आचार्य जी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार की अध्यक्षता में तथा उन्हीं के कार्यालय में हुई। जिसमें प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में आने वाली समस्याओं पर विचार किया गया। प्रशिक्षक-प्रशिक्षण की तिथियों का निर्धारण किया गया तथा प्रबन्ध सम्बन्धी सूचना दी गयी।

१ अगस्त सन् १९८४ से "प्रौढ़ शिक्षा" प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण कार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में प्रारम्भ किया गया, जिसमें विभिन्न विषयों के विद्वानों को आमंत्रित किया गया और उन्होंने प्रशिक्षण शिविर में अपनी सेवाओं का योगदान दिया। यह कार्यक्रम ७ अगस्त १९८४ को सम्पन्न हो गया। प्रशिक्षक लोग अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानों पर पहुंच गये। जहाँ पर कि उनको प्रशिक्षण कार्य प्रारम्भ कर देना है।

अगली "प्रौढ़ शिक्षा" कार्यकारिणी की समिति की बैठक १० नवम्बर सन् १९८४ को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रधान कार्यालय में हुई जिसकी अध्यक्षता माननीय कुलपति जी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने की। इस बैठक में प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम को अधिक प्रभावी तथा कारगर बनाने पर अधिक जोर दिया गया। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में आने वाली बाधाओं के

निराकरण के उपाय सुझाये गयें। माननीय कुलपति जी ने अधिक और पिछड़े गांवो की तरफ दिया तथा सुझाव दिया कि ज्यादा गांवो को न लेकर सीमित गांव लेकर वहां से निरक्षरता समूल नष्ट की जाये तथा कुछ गांव योजना के अन्तंगत लिये गये जिनसे निरक्षरता पूर्ण रूप से दूर की जायेगी।

प्रौढ़ शिक्षा की प्रगति के लिए नवम्बर १९८४ ई० में ही दो प्रौढ़ शिक्षा पर्यवेक्षकों को नियुक्त किया गया जिनके द्वारा प्रौढ़ शिक्षा–प्रशिक्षकों के कार्य का अवलोकन तथा प्रगति की समीक्षा की जायेगी।

कार्यक्रम में कार्य की अधिकता को देखते हुए दो पार्ट टाइम क्लर्कों की नियुक्ति की गयी तथा एक पार्ट टाइम चपरासी रखा गया है। उन क्लर्कों के कार्य का विवरण इस प्रकार है— प्रथम क्लर्क हिसाब देखेंगे तथा दूसरे क्लर्क पत्राचार संबन्धी कार्य को देखेंगे।

इन सब कर्मचारियों के अतिरिक्त अतिशीघ्र एक परियोजना अधिकारी को नियुक्त किया जायेगा। इन सबसे प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में स्टाफ की वृद्धि हुई है जिससे प्रौढ़ शिक्षा का विकास और तीव्र किया जा सकेगा।

अब प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की प्रगति तथा विस्तार को देखते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से ३० नये केन्द्र और लेने की सिफारिश की जा रही है जबकि ६० केन्द्रों की स्वीकृति विश्वविद्यालय को पहले से ही स्वीकृत है।

प्रौढ़ शिक्षा के पर्यवेक्षकों ने अपना पद-भार सम्भाल लिया है तथा कार्य प्रारम्भ कर दिया है। हमारे पर्यवेक्षक गांव-गांव में जाते हैं तथा जन-संपर्क करते हैं, जिससे यह पता लगाया जा सके कि किस स्थान पर अधिक निरक्षर लोग हैं तथा वहां पर अपना प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र स्थापित किया जा सके। विशेष-तया गरीब मजदूर तथा किसानों के पास जाने के आदेश विश्वविद्यालय द्वारा दे दिये गये हैं। इसलिये अधिकतर प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र हरिजन बस्तियों में ही खोले गये हैं।

जिन केन्द्रों पर प्रशिक्षुओं की संख्या कम है, पर्यवेक्षकों को आदेश दिये गये हैं कि वे उनका पता लगाये तथा संख्या पूरी करने के प्रयास करें तथा संख्या कम होने का कारण खोजें।

निकट भविष्य में ही प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत पर्यवेक्षकों तथा प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण की योजना बनायी जा रही है।

२५-११-८४ को माननीय कुलपति जी ने प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का निरीक्षण किया जो कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा कांगड़ी ग्राम तथा गाजीवाला बिजनौर में चलाया जा रहा है। उन्होंने कार्य की समीक्षा की तथा विकास संबन्धी निर्देश दिये।

विभिन्न समस्याओं के होते हुए भी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित "प्रौढ़ शिक्षा" कार्यक्रम प्रगति की ओर अग्रसर है तथा इसका भविष्य उज्जवल है। जिन गांवों को लक्ष्य बनाया गया है उन्हें पूर्ण करने में शीघ्र ही यह विश्वविद्यालय सफलता प्राप्त करेगा।

—डॉ० त्रिलोकचन्द
संयोजक, प्रौढ़ शिक्षा-विभाग

-**—

गुरुकुल विश्वविद्यालय में माइक्रोबायोलोजी

डा० बी०डी० जोशी
अध्यक्ष, जन्तु-विज्ञान-विभाग

विगत दो दशकों से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का विज्ञान-महाविद्यालय स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ कराये जाने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहा पर कतिपय अपरिहार्य कारणों से यह प्रारम्भ होकर भी संभव न हो सका। इस स्थिति से विज्ञान महाविद्यालय कुछ उपेक्षित सा भी प्रतीत होता था। पर चूँकि विगत दशक की पूरी दो पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान वि०अ०आ० की 'प्लान पैनल कमेटी' ही यहाँ न आ सकी थी, अतः कुछ न किया जा सका।

इस वर्ष फरवरी माह में माननीय कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा के अथक् प्रयत्न एवं व्यक्तिगत प्रभाव के फलस्वरूप वि०अ०आ० का पैनल, मानो माता सरस्वती के वरदान के रूप में ही इस विश्वविद्यालय में आया। आपसी विचार-विमर्श और तथ्यों ने इस बात की पुष्टि की कि 'विज्ञान महाविद्यालय' के विभिन्न विषयों में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ होना ही चाहिये। कुलपति श्री हूजा जी की भी हृदय से इच्छा रही है कि विश्वविद्यालय का बहुमुखी विकास हो, और हमारे स्नातकों को नौकरी पाने के लिये दूर-दूर तक एवं देर तक भटकना न पड़े। अतः उनकी सदाशयतापूर्ण संस्तुति के आधार पर ही वि०अ०आ० ने विज्ञान महाविद्यालय में 'जन्तु विज्ञान' एवं 'वनस्पति विज्ञान' विभागों को मिलाकर एक अत्याधुनिक वैज्ञानिक विषय 'माइक्रोबायोलोजी' में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ करने की स्वीकृति प्रदान की।

गुरुकुल के लिये यह निश्चय ही अत्यन्त गौरव की बात है कि 'पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय' के बाद राज्य में यह एकमात्र 'परम्परावादी' शिक्षा केन्द्र है जहाँ 'माइक्रोबायोलोजी' को पूर्ण विषय के रूप में स्नातकोत्तर कक्षा में पढ़ाया जायेगा। इस उपलब्धि का महत्त्व और भी द्विगुणित हो गया है, क्योंकि (संभवतः) देश का यह पहला विश्वविद्यालय होगा जहाँ स्नातकोत्तर स्तर पर विज्ञान के एक विषय को यू०जी०सी० की 'शिक्षा-परीक्षा सुधार नीति' के अनुसार नूतन 'क्रेडिट प्रणाली' के अनुसार पढ़ाया जाना है। अस्तु !

माइक्रोबायोलोजी क्या है ?

विश्वविद्यालय परिसर के अन्दर, बाहर कई बार परिचितजन यह प्रश्न पूछते हैं। स्वाभाविक भी है। क्योंकि साधारण अथवा सामान्य जनमानस के समक्ष यह एक 'नवीन' विषय है।

'माइक्रोबायोलोजी'—माइक्रोब्स अथवा माइक्रो आर्गेनिज्म (अत्यन्त सूक्ष्म जीवजन्तुओं) के संगठित व्यावहारिक एवं आधारिक पठन-पाठन की विद्या का नाम है। भाषा विन्यास की दृष्टि से यह दो शब्दों की युति से बना हुआ है 'माइक्रोब' + 'बायोलोजी'। अतः स्पष्ट हुआ कि इस विषय के अन्तर्गत हम अत्यत सूक्ष्म जीव-जन्तुओं की, जो प्रायः 'माइक्रोस्कोपिक' हैं (सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखे जा सकते हैं) के जीवनचक्र, रचना, हानि-लाभ, भौगोलिक एवं पर्यावरणीय वितरण उपयोगिता से सम्बन्धित ज्ञान का अध्ययन करते हैं।

'माइक्रोबायोलोजी'—अपने आप में एक पूर्ण नवीन तथा पूर्णतः शुद्ध विषय भी नहीं है। कई अन्य आधुनिकतम विषयों जैसे, साइटोलोजी, जेनेटिक्स, जूलोजी, बौटेनी, वायरोलोजी, बैक्ट्रीरियोलोजी, स्टोटिक्स, कैमिस्ट्री, इकालाजी आदि के समन्वयन से— 'माइक्रोबायोलोजी' को पूर्णता प्राप्त होती है। पर मूलतः इस विषय के निम्न चार एकक हैं—

१. **जन्तु** : प्रायः एककोषीय जन्तु यथा प्लाजमोडियम (मलेरिया का जीव), एन्टअमीबा (पेचिस का कारण) फाइलेरियल वर्म (हाथी पाँव रोग का कारण) आदि।

२. **वनस्पति** : कई प्रकार की नन्हीं-नन्हीं एवं बड़ी वनस्पतियाँ यथा पेनीसिलियम, ईस्ट, डायएटम्स आदि।

३. **वायरस** : अत्यन्त सूक्ष्म विषाणुओं का समूह जो जब तक किसी 'जीवित' जन्तु अथवा पौधे के संसर्ग में नहीं आता, निष्क्रिय ही रहता है, परन्तु जीवन के सम्पर्क में आते ही प्रायः मुसीबत का भंडार बन जाता है। जैसे इनफ्लूएन्जा, चेचक आदि के विषाणु (वायरस)।

४. **बैक्टीरिया** : यह भी बहुत छोटे जीवाणु होते हैं। लाभदायक भी होते हैं और हानिकारक भी। जैसे दही को बनाने वाले (लैक्टो बैसिलस) या न्यूमोनिया, क्षय और डिप्थीरिया जैसे रोगों के बैक्टिरिया।

आर्थिक महत्त्व :

इन सूक्ष्म जीव-जन्तुओं का [विशाल आर्थिक महत्त्व है। यह ध्यान में रखने की बात है कि 'आर्थिक महत्त्व' के अन्तर्गत हम 'हानि और लाभ' दोनों पक्षों का अध्ययन करते है।

सत्य तो यही है कि इस धरा को कुछ भी धारण करने योग्य यही माइक्रो आर्गिनिज्म (Micro organisms) बनाए हुये हैं। जैविक विकास की दृष्टि से इस पृथ्वी पर सबसे पहले इन्हीं सूक्ष्मजीवियों के नन्हे-मुन्नों ने जीवन का मायाजाल रचा था। आज जो कुछ भी इस 'नक्षत्र'— पृथ्वी पर है उसका 'बीज' रूप एक वायरस-अथवा-बैक्टीरिया अथवा एक 'प्रोकैरियोट' रूपी जीवन का ब्ल्यूप्रिंट ही था। मात्र इसीलिये आज 'जीवन' क्या है ? अथवा जीवन का निर्माण और नियन्त्रण किस तरह होता है ? इसे समझने के लिये 'जैव वैज्ञानिक' मनुष्य, हाथी, घोड़े, चिड़िया, साँप, मेंढक अथवा मछली की कोशिका का अध्ययन नहीं करता— अपितु एक अत्यन्त सर्व सरल रूप की जीवनाकृति— **इश्चरेश्चिया कोलाई**— नाम के हमारे ही एक सहजीवी बैक्टीरिया का अध्ययन करने पर मजबूर है। निश्चय जानिये जिस दिन (और वह दिन अब बहुत दूर नहीं है) मानव इस एक कोषा वाले सरलतम बैक्टिरिया के समस्त क्रिया-कलापों को पूर्णतः समझ लेगा, उस दिन शायद मानव अमरता की परिधि में विचरण करने लगेगा। तो यह है— 'माइक्रोबायोलोजी' के अध्ययन से प्राप्त हो सकने वाली उपलब्धि की मात्र एक झलक।

वर्गीकरण— आर्थिक दृष्टि एवं अध्ययन की सहजता अथवा उपयोगिता की दृष्टि से इस जटिल विषय को आजकल कई तरह से वर्गीकृत करके पढ़ा-पढ़ाया जा रहा है, जैसे—

१. **सोईल माइक्रोबायोलोजी** (Soil Microbiology)— मिट्टी प्रकृति की सर्वप्रथम प्राकृतिक रचना है, पर स्वयं में जीवनहीन, गन्धहीन, और अनेक जैविक गुणों से सर्वथा रिक्त है। सच जानिये मिट्टी को जीवन निर्माण की शक्ति अथवा जीवन के निमित्त-पोषण देने की शक्ति— वस्तुतः विभिन्न किस्म के माइक्रो-आर्गिनिज्मस् की बदौलत ही मिलती है। जमीन की गीली-गीली सी अथवा ताजा खुदी— कोई सी भी सोंधी-सोंधी सी महक हो, या पूर्णतः सड़ी खाद की उदासीन गन्ध अथवा जैविक अंशों की अन्तिम परिणति—मिट्टी का मक्खन 'ह्यूमस' सब इन्हीं सूक्ष्म जीवों की मेहरबानी है। चट्टान को धीमे-धीमे गलाकर, विदीर्ण कर पोषक मिट्टी के चूर्ण में बदल देना भी इन्हीं का विषय है। इसी हेतु स्ट्रेप्टो-माइसेस, नोकार्डिया, माइक्रोमोनास आदि श्रेणी के सूक्ष्मजीवी होते हैं। भूमि कृमियों का अपना एक अन्य वर्ग है जो लाभदायक भी होता है और हानिकारक भी।

२. **प्लान्ट माइक्रोबायोलोजी** : इस विषयांग के अंतर्गत प्रायः दो प्रकार के सूक्ष्मजीवियों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। प्रथम तो वे जो रचना

के अनुसार 'पादपीय' हैं जैसे फंगस एवं एल्गी की कई किस्में, दूसरे वें जो पौधों से अभिन्न रूप से कई तरह के लाभ अथवा हानि की दृष्टि से संबधित हैं जैसे नाइट्रोसोमोनास अथवा एजो बैक्टर और प्लान्ट निमेटोडस् । (नोट—अब तो कई विद्वान एग्रीकल्चरल माइक्रोबायोलोजो को एक प्रमुख विषय मानकर उसके अंतर्गत ही भूमि, पादप, अनाज, अभव वन माइक्रोलोजी के अध्ययन को विस्तार दे रहे हैं ।)

३. एनिमल माइक्रोबायोलोजी : वस्तुतः इस नाम से काई एक अलग विषय नहीं है। पर यह एक 'भावनात्मक विषय बोध' है । इसके अंतर्गत प्रायः पुनः दो प्रकार के सूक्ष्म जीवों का अध्ययन किया जाता है । प्रथम जो रचनात्मक दृष्टि से 'जंतु' हैं । द्वितीय जो अपने कार्यप्रभाव की दृष्टि से जंतुओं पर आधारित हैं, जैसे इश्चेरीश्चिया कोलाई (कई स्तनधारी जंतुओं की अंतों में रहने वाला एक सहजीवी) प्लाजमोडियम वायवेक्स (मलेरिया का जीव), दाद पैदा करने वालो फंगस, आंखों में जाले पैदा करने वाली फंगस, पेचिश, पायोरिया आदि के जीव, आदि ।

४. मेडिकल माइक्रोबायोलोजी : कई प्रकार के सूक्ष्मजीवी मानव, अनेक जीव-जंतुओं अथवा फसलों, फलों, शाक–भाजियों आदि को कई प्रकार से रोगग्रस्त करते हैं। इस तरह मानव समाज के आवश्यक हितों को क्षति पहुँचती है। दूसरी ओर कई प्रकार के सूक्ष्मजीव मानव के हित में इतने आवश्यक हैं कि उनके बिना मानव का स्वस्थ रहना असंभव है। सामान्य जनता के स्वास्थ्य संबंधो रखरखाव हेतु इन नन्हें-नन्हें माइक्रोब्स का अमूल्य योगदान है। रोग प्रतिरोध क्षमता के कई प्रकार के टीके (वैक्सीन), एन्टीबायोटिक्स, रक्तदान सबंधी आवश्यकताएँ इत्यादि का विस्तृत अध्ययन इस अंग के अंतर्गत किया जाता है। इससे संबंधित एक उपविभाग वर्तमान में पब्लिक हेल्थ एण्ड हाइजीन माइक्रोबायोलोजी के नाम से अध्ययन हेतु स्वीकृत है।

५. इन्डस्ट्रियल माइक्रोबायोलोजो :

विभिन्न प्रकार के उद्योगों में 'माइक्रोब्स' महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । जैसे चमड़े की टैनिंग, कागज, पटसन, सन, जूट, रस्सा-उद्योग, मादक पेय पदार्थ यथा बीयर, वाइन आदि, कई प्रकार के एसिड, दवाइयाँ, सिरका आदि का निर्माण-उद्योग कुछ विशेष प्रकार के माइक्रोब्स की दया पर ही निर्भर है ।

६. एक्वेटिक माइक्रोबायोलोजी : भोजन से पहले मानवीय आवश्यकताओं में जल का स्थान आता है। साथ ही 'पानी' हमारो कई प्रकार की दैनिक

आवश्यकताओं का एक आवश्यक आधार भी है। इस प्रक्रिया में पानी में कई प्रकार के अवांछित सूक्ष्म जीव-जंतुओं का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही है। जैसे चमड़े, दवाइयों के उद्योग में, कृषि संबंधित उद्योगों में, घरेलु सीवर लाइन के द्वारा आदि-आदि। अतः पानी को पुनः किस तरह रिसाइकिल किया जाय; रोगाणु-विषाणु रहित किया जाय अथवा किस प्रकार के जल में किन-किन तरह के माइक्रोब्स की निपति अथवा जीवनचक्र संभव है, महामारियों के प्रसार अथवा रोकथाम में किस प्रकार जल नियंत्रण आदि इस विषयांग के अन्तर्गत आते हैं।

७. **फूड एण्ड मिल्क माइक्रोबायोलोजी** : आज के वैज्ञानिक युग में विभिन्न प्रकार के अन्तर्देशीय भोजनों की यत्र-तत्र माँग रहती है, फिर हमारे दैनिक उपयोग में भी हर प्रकार के समाज में भोजन निर्माण, उसका अल्पकालिक संरक्षण, बासीपन अथवा अंतरिक्ष यात्रा में भोजन को लम्बे समय तक हानि रहित होने से बचाना, विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट जेली, जैम, अचार, मक्खन, घी, शहद, पनीर को लम्बे समय तक उपयोगी बनाए रखना आदि का अध्ययन इस शाखा के अन्तर्गत किया जाता है। अकाल अथवा दुर्भिक्ष के समय इन सब बातों का महत्व और भी बढ़ जाता है। दूध का पाश्चराइजेशन भी इसी विज्ञान की देन है।

८. **इनविरोनमेन्टल माइक्रोबायोलोजी** : पूर्व में भी बताया जा चुका है कि माइक्रोब्स इस भू-मंडलीय पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। उदाहरणस्वरूप कल्पना करें यदि माइक्रोब्स घास, फूस, गिरी हुई पत्तियों, बेकार के कपड़े-लत्ते, कागज-पत्तर, मृत जीव-जंतुओं को सड़ाकर मिट्टी में न मिला दें या बहते पानी के कई माइक्रोब्स उस सड़न को पैदा होने से न रोकें या गोबर और पत्तियां और मल-मूत्र एक दुर्गंधरहित खाद में न बदली जा सके तो क्या हमारा पर्यावरण रहने योग्य रह सकेगा। 'गंगा' की पवित्रता और दीर्घकालीन ताजगी का रहस्य भी अत्यंत सूक्ष्म जीवांशों को ही जाता है। साथ ही पर्यावरण को प्रदूषित कर भयंकर महामारियों के मूल में भी इसी विषय के 'जीव' होते हैं। संबधित ज्ञान का अध्ययन इसी विज्ञान का एक अंग है।

९. **जेनेटिक इंजीनियरिंग** : बीसवीं सदी भौतिक विज्ञान से प्रदत्त उद्योग सदी के रूप में मान्य है तो इक्कीसवीं सदी अथवा आने वाला कल निश्चय ही बायलोजी की इस सर्वनूतन शाखा पुत्री—जेनेटिक इंजीनियरिंग का युग होगा। यह प्रायः निर्विवाद है। मानव अथवा पालतु जानवरों में नये अंग प्रत्यारोपण होने हैं, किसी को एक महान वैज्ञानिक, कलाकार, राजनीतिनिपुण, धर्मात्मा, कठोर (फौलादी)पुत्र अथवा पुत्री चाहिये; घुंघराले; काले, नीले, भूरे, बालों वाली संतति चाहिये, किसी दुर्घटना के बाद कोई नया अंग बदलवाना है, गोरे रंग की सुन्दर

संतान चाहिये, डायबिटीज, कैंसर, रतौंधी का इलाज अथवा गुलाब पौधे में आम, नीम के पेड़ में खजूर, २-२ किलो वजन का आलू, आदि २। यह सब संभव होने जा रहा जेनेटिक इंजीनियरिंग की बदौलत। और इसका मूल है इश्चरेश्चिया कोलाई बैक्टिरिया पर किये जा रहे विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग। यह सब भी माइक्रोबायोलोजी का ही प्रभाव है।

१०. कास्मिक अथवा स्पेस माइक्रोबायोलोजी : मानव आज अंतरिक्ष में विहार करने लगा है। वहाँ की भौतिक एवं रासायनिक परिस्थितियाँ पृथ्वी से सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। जीवन पर उन अनजानो परिस्थितियों का क्या प्रभाव होगा इसके अध्ययन एवं परीक्षण का कार्य और अन्य प्रभावों के अध्ययन में भी माइक्रोब्स का महत्वपूर्ण योगदान होने जा रहा है। अन्तरिक्षीय ग्रहों में जीवन की संभावनाओं की खोज भी वहां से प्राप्त अनेक तथ्यों में जीवाश्मों के सहारे बहुत कुछ निर्भर करती है। अतः यह इस विज्ञान की सबसे नवीन प्रशाखा है।

इस तरह हम देखते हैं कि माइक्रोबायोलेजी का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसके बिना जीवन का हर पहलू अधूरा–सा लगता है। यह विषय अत्यंत रोचक, समाजोपयोगी, कुछ क्लिष्ट एवं खर्चीला भी है। प्रयोगशाला में विशेष परिस्थितियों अथवा एयर कंडीशन्ड प्रयोगशालाओं में प्रयोगात्मक कार्यों की निपति, साथ ही साथ हमारे नित्य के जल, भोजन, जख्म, रोग, फल, फूल आदि से जुड़ा हुआ यह विषय उतना ही रोमाँचक है जितना हमारे वैदिक वर्णित 'ईश्वर' का विराट स्वरूप। वस्तुतः इस विषय के सूक्ष्माति सूक्ष्म जीवों में ही ब्रह्मांड की विराटता छिपी हुयी है।

अंत में यह कहना उचित ही होगा कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के विज्ञान महाविद्यालय में माइक्रोबायोलोजी विषय में स्नातकोत्तर कक्षाओं का शुभारम्भ, न केवल गुरुकुल विश्वविद्यालय के शिक्षा प्रचार-प्रसार की अनन्यतम उपलब्धि का एक नया सोपान है, यह हरद्वार और प्रदेश के अन्य निकटतर क्षेत्रों के प्रतिभासंपन्न छात्रों को अपना भविष्य संवारने हेतु एक और नया आधुनिक क्षेत्र है। यह भी आशा की जानी चाहिये कि आगामी पंचवर्षीय योजना में विज्ञान के अन्य विषयों में भी स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ होंगी।

—**—

निकष पर

(पुस्तक–समीक्षा)

(समीक्षा के लिए प्रकाशन की दो प्रतियाँ आनी अनिवार्य हैं। एक प्रति भेजने पर प्राप्ति-स्वीकृति ही प्रकाशित की जाएगी।

—सम्पादक)

पुस्तक का नाम	—	**कल्पसूत्र**
लेखक	—	**श्री कुन्दनलाल शर्मा**
प्रकाशक	—	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होश्यारपुर (पंजाब)
प्रकाशन-वर्ष	—	१९८१
पृष्ठ-संख्या	—	२६+६७०
मूल्य	—	६० रु०

वैदिक साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ प्राप्य हैं, किन्तु उनमें मूल ग्रन्थों के सम्यक् आलोडन से उपलभ्य प्रामाणिक तथ्यों, विविध प्रकाशित समीक्षात्मक पुस्तकों तथा विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में प्राप्य सामग्री का समाकलन नहीं किया गया है, जिससे वे न तो प्रामाणिक ही हैं और न पूर्ण ही। इस अभाव की पूर्ति की दृष्टि से गुरुवर्य स्वर्गीय कुन्दनलाल शर्मा जी (भूतपूर्व रीडर एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय, मुज़फ्फरनगर, उत्तरप्रदेश) ने सात खण्डों में समग्र वैदिक वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करने की बृहती योजना बनाई। इनमें विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर (पंजाब) से १९८१ ई० में सप्तम खण्ड (कल्पसूत्र) तथा १९८३ ई० में षष्ठ खण्ड (वेदांग) प्रकाशित हो चुके हैं। दुर्भाग्यवश दुर्दैव के क्रूर हाथों ने श्री शर्मा जी को हमसे छीन लिया है। अवशिष्ट खण्डों के प्रकाशन की व्यवस्था उनकी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पा शर्मा जी कर रही हैं। सम्पूर्ण खण्डों के प्रकाश में आ जाने पर निश्चय ही यह वैदिक वाङ्मय का अनुपम तथा सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ होगा।

श्री शर्मा जी ने अपनी योजना के सप्तम खण्ड रूप 'कल्पसूत्र' नामक ग्रन्थ में श्रौतसूत्र, शुल्बसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र इन चार वर्गों में विभक्त 'कल्पसूत्र' नामक साहित्य का विवेचनात्मक तथा समालोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है; उन्होंने इनके साथ ही पितृमेधसूत्रों तथा प्रवरसूत्रों का भी विवेचन किया है। भूमिकात्मक प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश तथा श्रौतसूत्रों के विकास का संकेत किया गया है; द्वितीय अध्याय में ऋग्वेदीय आश्वलायन तथा शाङ्खायन श्रौतसूत्रों; तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायों में कृष्णयजुर्वेदीय बौधायन, वाधूल, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, काठक, सत्याषाढ़, वाराह तथा वैखानस श्रौतसूत्रों; पञ्चम अध्याय में शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन-श्रौतसूत्र; षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में सामवेदीय आर्षेयकल्प (अथवा मशक-कल्पसूत्र), क्षुद्रकल्पसूत्र, जैमिनीय, लाट्यायन, द्राह्यायण तथा निदानसूत्र श्रौतसूत्रों और अष्टम अध्याय में अथर्ववेदीय वैतान-श्रौतसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों, भाषा-शैली, रचना-काल, प्रणेता, विविध

भाष्यों तथा प्रकाशित संस्करणों का सम्यक् वर्णन है। नवम तथा दशम अध्यायों का विवेच्य विषय शुल्बसूत्र हैं। नवम अध्याय में शूल्बसूत्रों के स्वरूप एवं प्रयोजन आदि के निर्देश के पश्चात् दशम अध्याय में विद्वान् लेखक ने बौधायन, मानव, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय (अथवा सत्याषाढ़), कात्यायन, मैत्रायणीय, तथा वाराह शुल्बसूत्रों का विस्तरेण विवेचन किया है। एकादश अध्याय में पितृमेधसूत्रों के स्वरूप एवं प्रयोजन के संकेत के पश्चात् बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, मानव, आग्निवेश्य, कात्यायन, कौशिक, सत्याषाढ़–हिरण्यकेशीय, गौतम, कौषीतक, शाङ्खायन, आखलायन, काठक, वैखानस तथा तैत्तिरीय पितृमेधसूत्रों का विशद विवेचन किया गया है। द्वादश अध्याय का विषय प्रवरसूत्र हैं, जिसमें प्रवरसूत्रों के स्वरूप एवं प्रयोजन के उल्लेख के बाद बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, कात्यायन, सत्याषाढ़, मानव तथा वाराह प्रवरसूत्रों का विशद वर्णन है। त्रयोदश से अष्टादश अध्यायों में गृह्यसूत्रों का विवरण है। त्रयोदश अध्याय में गृह्यसूत्रों के विषय एवं प्रयोजन के वर्णन के उपरान्त चतुर्दश अध्याय में आश्वलायन, शाङ्खायन, शाम्बव्य (कौषीतकि) तथा अमुद्रित ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों; पञ्चदश तथा षोडश अध्यायों में बौधायन, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, आपस्तम्ब–यज्ञपरिभाषासूत्र, आपस्तम्बीय एकाग्निकाण्ड, काठक, लौगाक्षि, आग्निवेश्य, हिरण्यकेशीय, वाराह, वैखानस, चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय, पारस्कर तथा बैजवाप इन यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों; सप्तदश अध्याय में गोभिल कौथुम, खादिर, द्राह्यायण, जैमिनीय तथा अप्रकाशित (गौतम-गृह्यसूत्र तथा छन्दोग-गृह्यसूत्र) सामवेदीय गृह्यसूत्रों; और अष्टादश अध्याय में अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र का विशद वर्णन है। सभी ग्रन्थों के वर्णन में यथासम्भव प्रतिपाद्य विषयों, भाषा–शैली, रचना–काल, प्रणेता, भाष्यों तथा प्रकाशित संस्करणों के विवरण दिए गये हैं। एकोनविंश अध्याय में गृह्यसूत्रों के आधार पर विवाह तथा उसके प्रकार; विंश अध्याय में विवाह–संस्कार; एकविंश अध्याय में शिशु–संस्कार (जातकर्म, नामकरण तथा उपनयन), द्वाविंश अध्याय में आह्निककृत्य (होम, पञ्चमहायज्ञ, दर्शपूर्णमास, श्रवणा, आश्वयुजो कर्म, आग्रहायणी कर्म, कृषिकर्म तथा वृषोत्सर्ग); त्रयोविंश अध्याय में अन्त्येष्टिकर्म; चतुर्विंश अध्याय में श्राद्ध, पञ्चविंश अध्याय में श्राद्ध के विविध प्रकार (महापितृयज्ञ, पार्वणश्राद्ध, एकोद्दिष्ट, सपिण्डन, प्रतिसांवत्सरिक श्राद्ध, पिण्डान्वाहार्य, अष्टका श्राद्ध तथा अन्वष्टका) तथा ब्राह्मण भोजन एवं श्राद्ध में प्रयोज्य पदार्थ वर्णित हैं। षड्विंश से अष्टाविंश अध्यायों में धर्मसूत्र–साहित्य का विवेचन किया गया है। षड्विंश अध्याय में धर्मसूत्रों के उद्भव और विकास, धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में सम्बन्ध, धर्मसूत्रों तथा धर्मशास्त्रों में सम्बन्ध, और मानव–धर्मसूत्र की समस्या पर विचार किया गया है। सप्तविंश अध्याय में गौतम, बौधायन तथा आपस्तम्ब इन प्राचीन धर्मसूत्रों; और अष्टाविंश अध्याय में वासिष्ठ, हारीत, हिरण्यकेशीय, शंख, वैखानस-धर्मप्रश्न तथा विष्णु इन अनतिप्राचीन धर्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों, भाषा-शैली

रचना-काल, प्रणेता, भाष्यों तथा प्रकाशित संस्करणों के विवेचन/वर्णन के बाद अन्य धर्मसूत्रकारों (अत्रि, उशना, कण्व, कश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातुकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, बृहस्पति तथा भारद्वाज) का परिचय दिया गया है। धर्मसूत्रों का अवलम्बन करते हुए एकोनत्रिंश से चतुस्त्रिंश अध्यायों में क्रमश: वर्ण-व्यवस्था; आश्रम-व्यवस्था; गृहस्थाश्रम; वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम; राज-धर्म; और शुद्धि (अथवा शौच), पाप तथा प्रायश्चित्त का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् लेखक ने सभी विषयों का मूल ग्रन्थों तथा विविध भाषाओं में यत्र-तत्र प्रकाशित समालोचनात्मक ग्रन्थों एवं लेखों के आलोक में सर्वाङ्गीण प्रतिपादन किया है और स्थान-स्थान पर अपनी स्वच्छ, पक्षपातरहित एवम् अनतिवादी दृष्टि का परिचय देते हुए सन्तुलित निर्णय प्रस्तुत किए हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में प्राक्कथन के अतिरिक्त विषय-सूची तथा संक्षेप-सूची; और अन्त में अतीव उपयोगी उद्धरण-सूची, विशिष्ट-पद-सूची, पुस्तक-सूची, तथा शुद्धि-पत्र हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ सभी दृष्टियों से अत्युत्तम है और लेखक के मनोयोग-पूर्वक कठोर परिश्रम एवम् अध्यवसाय का परिचायक है। उन्होंने अभी तक उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का विवेकपूर्ण उपयोग किया है। विद्वज्जगत् इस वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ के लिए उनका सदैव ऋणी रहेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ सभी दृष्टियों से प्रशंसनीय एवं सभी वेदज्ञों तथा वेदाध्यायियों द्वारा संग्राह्य है।

—डॉ० मानसिंह
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग

—✲✲—

पुस्तक का नाम	—	**'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती'**
लेखक	—	**डा० भवानीलाल भारतीय**
प्रकाशक	—	वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभा, दयानन्दाश्रम, अजमेर
मूल्य	—	४० रुपये

डा० भारतीय द्वारा रचित—'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती' मैं दो ही दिन में आद्योपान्त पढ़ गया। आपने जिस परिश्रम से यह अनुसंधान किया है और जिस दिलेरी से अपने विचारों को प्रकट किया है, उसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं।

स्वामी जी ने अपने तीन वर्ष (१८५७-६०) के अज्ञातवास पर कोई प्रकाश नहीं डाला। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह यदि ऐसा करते तो तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारियों के कोप का शिकार होते और देश के उत्थान का जो लक्ष्य उन्होंने अपने सामने रखा था, उसमें यथेष्ठ योगदान न दे सकते।

इस पुस्तक में यह भी संकेत है कि जब उन्होंने जोधपुर राजा को ब्रिटिश सरकार के किसी पत्र का उत्तर देने के लिए प्रेरणा दी तो उससे वे ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन वने।

अलबत्ता यह अनुसंधान का विषय है कि तत्कालीन जोधपुर नरेश उनसे राज-काज के सम्बन्ध में परामर्श लिया करते थे, अथवा नहीं। वैसे तो जो अन्यमनस्कता जोधपुर नरेश ने उनके जोधपुर प्रवास में दिखलाई उससे तो ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने स्वामी जी से परामर्श लिया हो।

डा० भारतीय के अनुसंधान से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी सत्य को ग्रहण करने के लिये सर्वदा उद्यत रहते थे। जब कभी उनके अपने पूर्व विचार त्याज्य हो जाते थे तो वे किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के बिना अपने विचारों को सत्य और न्याय के अनुसार परिष्कृत करने में हिचकिचाते नहीं थे।

आपने यह भी स्पष्ट किया है कि स्वामी जी अपने अनुयायियों में किसी प्रकार की त्रुटि को सहन नहीं करते थे। वे उन्हें सदाचारी और संयमी देखना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने मुन्शी बख्तावरसिंह, इन्द्रमणि और कर्नल अलकाट को उनकी त्रुटियों के कारण अपने से अलग कर दिया। वे जोधपुर नरेश जैसे शक्तिशाली राजा का क्षत्रियोचित व्यवहार न देखकर रुष्ट हुए और उन्होंने अपना रोष निर्भीकता से प्रकट किया। उदयपुर नरेश उनके अनन्य भक्त थे,

किन्तु जब उदयपुर नरेश ने उन्हें मूर्तिपूजा का खण्डन न करने के उपलक्ष में एकलिंग जी की गद्दी देने का प्रस्ताव रखा तो स्वामी जी ने कहा "मैं मेवाड़ प्रदेश को तो एक छलाँग में छोड़ सकता हूं, लेकिन भगवान के राज्य को किस प्रकार छोड़ूंगा।'

डा० भारतीय की यह पुस्तक साधक, गुरुजन और शिष्यों के लिये प्रेरणादायी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

कहना न होगा गुरुवर विरजानन्द के जीवन पर भी इसी प्रकार के अनुसंधान की आवश्यकता है। क्या डा० भारतीय के द्वारा यह कार्य भी सम्पन्न हो सकेगा ?

—बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

—※—

पुस्तक का नाम	—	**ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्–खण्ड १, २ भामती व्याख्या**
सम्पादक-भाष्यकार	—	**स्वामी योगीन्द्रानन्द न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ**
प्रकाशक	—	षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम्, वाराणसी
मूल्य	—	६०+८०=१४० रुपये
पृष्ठ संख्या	--	१३७८

उदासीन सम्प्रदाय के उद्भट् दार्शनिक विद्वान् स्वामी योगीन्द्रानन्द ने न्याय और वेदान्त दर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थों की निर्मल तथा विशद् टीकाएँ की हैं। खण्डनखण्डखाद्य जैसे जटिल दुरूह ग्रन्थ से लेकर चित्सुखी, न्यायामृताद्वैत-सिद्धि जैसे क्लिष्ट ग्रन्थों तक का सम्पादन तथा पाण्डित्यपूर्ण विवेचन-विश्लेषण उन्होंने किया है। विश्वविद्यालयों के आधुनिक परिपाटी से पढ़ने–लिखने वालों को इन ग्रन्थों के प्रांजल तथा टकसाली हिन्दी में टीका-सम्पादनों से बड़ा लाभ हुआ। साहित्यशास्त्र में जैसे आचार्य बिश्वेश्वर ने टीका सम्पादन कर अनेक आकर–ग्रन्थों का द्वार अनुसन्धाताओं के लिए खोल दिया, वेदान्त और न्याय के ग्रन्थों में विश्वविद्यालयोय अनुसन्धाताओं का मार्गदर्शन उसी प्रकार स्वामी योगीन्द्रानन्द जी के ग्रन्थों ने किया। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के विद्वान्, छात्र तथा अनुसन्धाता उनके निकट सम्पर्क में बने रहते हैं। देश से बाहर भी उनके ग्रन्थों की पर्याप्त खपत है और दर्शन क्षेत्र का शायद ही कोई प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसा हो जिसने उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय न किया हो।

ब्रह्मसूत्र वेदान्त का प्रतिपादक आधार ग्रन्थ है। आचार्य शंकर ने शारीरकमीमांसाभाष्य लिखकर अद्वैतवेदान्त का प्रतिपादन किया। अद्वयवाद के प्रबल विरोधक भेदाभेदवादी आचार्य भास्कर ने शांकरभाष्य के सर्वथा निराकरण के लिए ब्रह्मसूत्रभाष्य की रचना की—

सूत्राभिप्राय संवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये।

इसमें जीव और ईश्वर के भेदाभेद उपपादन के साथ जीव को ईश्वर का अंश बताया गया था। आचार्य भास्कर परिणामवाद के भी समर्थक थे। आचार्य भास्कर के मन्तव्यों का युक्तियुक्त खण्डन मैथिली विद्वान् श्री वाचस्पति मिश्र ने भामती टीका में किया। भामती के महत्त्व को नकारते हुए यद्यपि प्रगटार्थकार ने मिश्र जी को 'मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यायनिभिज्ञः' कहा है तथापि 'भामती

व्याख्यान कल्पतरु' में मिश्र जी की नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि का समर्थन मिलता है। भामतीकार ने मण्डन मिश्र और मीमांसाकारों के मन्तव्यों तथा अनुचित वक्तव्यों का खण्डन करते हुए भी इस बात का ध्यान रखा है कि उनका उचित तथा संगतपक्ष उपेक्षित न हो। मीमांसा के अन्य ग्रन्थ शाबरभाष्य, मीमांसा वार्तिक, बौद्ध ग्रन्थ प्रमाण वार्तिक तथा जैनग्रन्थ आप्तमीमांसा को उद्धृत कर भामतीकार ने शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट, धर्मकीर्ति तथा श्रीमन्त भद्र की रचनाओं के प्रति अपनी पूर्ण जानकारी व्यक्त की है। वेदान्त की व्याख्या में भामती एक स्वतन्त्र प्रस्थान है। इसके विपरीत श्री प्रकाशात्म मुनि का 'पञ्च-पादिका विवरण' भिन्न प्रस्थान है। स्वामी योगीन्द्रानन्द जी ने ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड की भूमिका में इस प्रस्थानभेद को स्पष्ट किया है। भामती पर प्राचीन ग्रन्थ श्री अमलानन्द सरस्वती कृत कल्पतरु है। इसमें अनुभूति स्वरूपाचार्य के प्रगटार्थ का खण्डन किया गया है। सम्प्रति कल्पतरु पर दो टीकाएँ प्रकाशित हैं (१) अप्पयदीक्षित कृत कल्पतरुपरिमल तथा (२) श्री लक्ष्मीनृसिंह कृत आभोग। एक अपूर्ण टोका ऋजुप्रकाशिका है, शेष टीकाएँ भी अपूर्ण हैं और पाण्डुलिपियों के रूप में सुरक्षित हैं। स्वामी जी ने भामती व्याख्या के साथ शांकर भाष्य प्रकाशित कर एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। मूलग्रन्थ, भाष्य और भामती का एकत्र आकलन कर लेखक ने भामती की हिन्दी व्याख्या दी है।

परिशिष्ट में आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनी, काशकृत्स्न, जैमिनि बादरायण तथा बादरि नाम घटित २९ सूत्रों की सूची देकर वर्णानुक्रम से बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्रों की तालिका दी गई है। ग्रन्थ के किस-किस पृष्ठ पर भामती के ११५ श्लोकों में से कौन-कौन उद्धृत हैं, इसका संकेत दिया गया है। तदुपरान्त एक और परिश्रम तथा पाण्डित्यपूर्ण कार्य किया गया है और वह यह कि भाष्य तथा भामती में उद्धृत वाक्यों के उपजीव्य ग्रन्थ कौन हैं तथा वे वाक्य किस ग्रन्थ के किस प्रकरण से लिए गए हैं, इसका विवरण भी आकलित किया गया है। जैसे भाष्य भामती में पृष्ठ १०२७ पर ज्योतिष्टोम के प्रसंग में 'अग्नये त्वा जुष्ट निर्वपामि' मंत्र उद्धृत है, शोधार्थी यदि इसका मूल संदर्भ देखना चाहे तो उसे तैतिरीय संहिता देखनी होगी। सम्पादक ने परिशिष्ट में इसका संदर्भ (तै०सं० १।१।४।१) दे दिया है। लगभग २ हजार दो सौ छत्तीस वाक्यों के स्रोतग्रन्थ संदर्भ सहित दिए गए हैं। इनमें 'अक्रोधः सर्व-भूतेष कर्मणा' जैसे १०८ वाक्य ऐसे हैं जिनके मूल स्रोत अभी अज्ञात हैं और नहीं दिए जा सके। वेदान्त के खोजी विद्वानों के लिए यह चुनौती है। आशा है कोई इस ओर भी ध्यान देगा। सम्पादक ने कुछ जगह मात्र ग्रन्थ का उल्लेख किया है उद्धृत श्लोक का संदर्भांक नहीं दिया जैसे पृष्ठ २ पर 'ज्ञानं विराग-मैश्वर्यं' को वायु पुराण का बताया गया है पर संदर्भ नहीं दिया गया। पृष्ठ

१३२ पर 'सप्त द्वीपा वसुमती' को महाभाष्य का बताया गया है पर मूल संदर्भ नहीं दिया गया। यही स्थिति पृष्ठ ११५२ पर उद्धृत 'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गोलोक आहवनीयः' वाक्य की है, इसे छान्दोग्य का कहा गया है पर ठीक स्थान का उल्लेख नहीं। इसी प्रकार पृष्ठ ८४८ पर भामतीकार ने 'येन यस्याभि सम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः' श्लोक बृहट्टीका के नाम से उद्धृत किया है पर इसका भी संदर्भांक उपलब्ध नहीं होता। मूलग्रन्थ में कहीं पर भी संदर्भांक नहीं दिए गए थे। सर्वप्रथम स्वामी जी ने ही इस ग्रन्थ में इन वाक्यों की अकारादिक्रम से सूची बनाकर इनके संदर्भ और संदर्भांक दिए हैं। यह सामग्री जहाँ शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होती है वहाँ स्वामी जी के विशद अध्ययन का परिचय भी देती है। विद्वान् सम्पादक ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में उद्धृत ८७ ग्रन्थों के संकेत-विवरण तथा प्रकाशन स्थान भी दे दिए हैं। इनमें वैदिक, पौराणिक तथा वैदिकेतर ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

लेखक की भाषा-शैली विषय का निर्भ्रान्त प्रतिपादन करने में समर्थ है। भामतीकार को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से भी लेखक ने टिप्पणियाँ दी हैं और उन्हें कोष्ठ में रखकर स्वकीय योजना को मूल ग्रन्थकार की योजना से पृथक् भी कर दिया है। जैसे 'सम्बन्धि शब्द प्रत्यय व्यतिरेकेण' प्रकरण में लेखक ने धर्मकीर्ति का 'शब्दज्ञाने विकल्पेन वस्तु भेदानुसारिणा' श्लोक उद्धृत किया है अथवा विष्णुपुराण (६।३।४), वायुपुराण तथा यजुर्वेद (१७।२) के साक्ष्य पर एकत्वादि संख्या की सूचिका रेखा का अपनी पार्श्ववर्तिनी रेखाओं की अपेक्षा दस, सौ आदि विभिन्न शब्दों से व्यवहृत होने को प्रमाणित किया गया है।[1] भामतीकार केवल कहता है—'तथाऽण्वात्ममनसाम् इति'।[2] पर स्वामी जी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि निरवयव परमाणु का संयोग संभव नहीं अतएव वसुवन्धु ने छहों दिशाओं के साथ संयोग स्थापित करने के लिए छह अवयवों का आपादन किया है—'षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता' (विंशिका ११)।[3] वैशेषिक दर्शन के खण्डन के संदर्भ मे यह विवेचन है। स्वामी जी ने इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी विषय को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से लिखा है।

भामती की शैली और प्रक्रिया घोर श्रमसापेक्ष हैं। इस क्लेशबहुल कार्य का सम्पादन और भाष्य का विवेचन-विशदीकरण भी सामान्य कार्य नहीं। इस कार्य को वही सम्पन्न कर सकता था—जो भारतीय दर्शनों के उत्स का पारंगत विद्वान् हो तथा दर्शनों के अविरोधी-विरोधी सम्प्रदायों का विलक्षण

१—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती विवरण—पृष्ठ ६७२
२— वही —पृष्ठ ६७३
३— वही —पृष्ठ ६७३

पण्डित हो। स्वामी योगीन्द्रानन्द जी वैदिक–अवैदिक दार्शनिक धाराओं के गहरे जानकार हैं उनका यह ग्रन्थ जहाँ उनके वेदान्त ज्ञान का दिग्दर्शन कराता है, वहाँ उनके अनुसन्धान सापेक्ष दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है। इस कृति को हम उनकी प्रतिभा और तलस्पर्शी मेधा, तर्कणा तथा संयोजना का उज्ज्वल निकष मानते है।

आशा है, स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों की तरह इसका भी पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों में पूर्ण समादर होगा। जीवभूमि से ब्रह्मभूमि को ओर आरूढ़ होने वालों के लिए भामती सोपान है और इस पर चढ़ा जा सकता है, 'योगीन्द्र' की व्याख्याङ्गुलि पकड़ कर। पुस्तकालयों के लिए तो इसका संग्रह नितान्त अपरिहार्य है।

इस उत्तम ग्रन्थ के आधुनिक वैज्ञानिक शैली पर सम्पादन के लिए स्वामी जी को बधाई।

—डॉ० विष्णुदत्त राकेश

पुस्तक का नाम	—	बृहस्पति देवता
लेखक	—	वेदमार्तण्ड पंडित भगवद्दत्त वेदालङ्कार
प्रकाशक	—	श्री सरस्वती सदन, नयी दिल्ली-२६
मूल्य	—	अजिल्द ३० रु०, सजिल्द ४० रुपये

स्वामी दयानन्द के बाद तत्वचिन्तक मनीषियों का ध्यान एक बार फिर वेदों की ओर गया। वेद तथा ब्राह्मण, प्रातिशाख्य, उपनिषद आदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के प्रकाशन, मुद्रण, भाष्य एवं टीका-टिप्पणियों की जैसे धारा-सी प्रवाहित होने लगी। धीरे-धीरे वेद के एक-एक पक्ष को लेकर विचार चिन्तन का अंकुरण हुआ। इसमें वैदिक धर्म एवं दर्शन पर पूर्व एवं पश्च के मनीषियों की प्रज्ञा से अनेक सुन्दर पुष्प खिले। इसी प्रकरण में वैदिक देवताओं की सुगन्ध ने भी दिग्-दिगन्त को व्याप्त किया।

वैसे तो वैदिक देवों पर इधर अनेकों पुस्तकें प्रकाश में आयीं। स्वयं लेखक की इससे पूर्व ऋभु देवता, विष्णु देवता, सविता देवता आदि भी आ चुकी हैं। उसके बाद यह नयी कृति हमारे सम्मुख है। इन सभी देवों के ऊपर दृष्टिपात् करने से यह स्पष्ट है कि (इन्द्र, अग्नि, रुद्र आदि प्रसिद्ध देवों पर तो बहुतों ने कलम उठाई है) प्रायः लघु देवताओं को ही लेखक ने वरीयता दी है तथा बड़ी सफलता के साथ उनके स्वरूप को चित्रित किया है।

बृहस्पति देवता संहिता और ब्राह्मण इन दो भागों तथा २१ (इक्किस) अध्यायों में विभक्त है। जिनमें बृहस्पति के विभिन्न स्वरूपों को स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम व्युत्पत्ति देते हुए बृहत् शब्द की विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है, जिससे बृहस्पति का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकरण में द्यु लोक से भी उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। स्मरणीय है कि बृहस्पति पृथिवी स्थानीय देवता है।

द्वितीय अध्याय में बृहस्पति शब्द से एकदम देव-गुरुत्व का स्मरण होना स्वाभाविक है। गुरु का शिष्यों के साथ सम्बन्ध कैसा हो, जो मन, बुद्धि व इन्द्रियों को सशक्त एवं समर्थ बनाकर उन्हें ज्योतिष्मान पथ पर अग्रसर कर सके, यह तभी सम्भव है जब रज व तम को घर्षित करते हुए सत्वगुण को प्राधान्य प्रदान किया जाए। इस सम्पूर्ण लम्बे व कठिन मार्ग में बृहस्पति का निरन्तर मार्ग-निर्देशन ही शिष्य के मन, बुद्धि व इन्द्रियों को वश में लाता है। इसी को बृहस्पति का गो-रक्षण कहा जाता है।

वैदिक देवों में स्पष्ट रेखाङ्कन सरल कार्य नहीं है। कभी एक कर्म एक ही देवता करता है तो कभी उसी कार्य को अन्य देव के साथ भी जोड़ दिया जाता है। कभी भिन्न प्रतीत होने वाले दो देवता वस्तुतः एक ही होते हैं। यह स्थिति बृहस्पति एवं ब्रह्मणस्पति के बारे में और भी अस्पष्ट है, क्योंकि प्रायः बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति के सूक्त तो अलग-अलग पढ़े गये हैं, पर उनकी व्युत्पत्ति व गुण-धर्म समान हैं। इतना साम्य होते हुए कुछ वैषम्य भी हैं, उदाहरणार्थ संहिताओं में बृहस्पति को कहीं भी पुरोहित का विशेषण नहीं दिया गया, परन्तु ब्राह्मणों में उसे "बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः" ऐतरेय ८.२६ कहा गया है। जबकि ऋग्वेद २-२४-६ (स सन्नयः स विनयः पुरोहितः) में ब्रह्मणस्पति के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है, वैसे यह पद अग्नि के लिए विभिन्न स्थलों पर (ऋग्वेद-१-१-१ आदि) प्रयुक्त किया गया है। इन प्रमाणों से बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति की एकता संदिग्ध हो जाती है। साथी ही संहिताओं में ब्रह्म को भी बृहस्पति कह दिया गया है— "ब्रह्म वै बृहस्पति" (मैत्रायणी संहिता-२-२-३)। परन्तु ब्रह्म व बृहस्पति का पार्थक्य सर्वथा स्पष्ट है। इनका यदि और भी स्पष्टीकरण होता तो पाठक के लिए यह विषय और भी सुगम एवं शंकारहित हो सकता था। यद्यपि लेखक ने इस ओर प्रयास किया है।

पुस्तक के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ भी आदित्य एवं बृहस्पति देवता के सूक्त (अथर्ववेद-४-११) "ब्रह्म जज्ञानं···" से होता है। यह मन्त्र यजुर्वेद-१३-३, सामवेद-१-३२१ में भी प्राप्त होता है। जैसा कि मन्त्र के प्रारम्भिक भाग से ही सूचित होता है इसमें जगत की उत्पत्ति का प्रकरण है। लेखक ने इस मन्त्र के रुक्म धारण में विनियोग का अच्छा स्पष्टीकरण दिया है। तथा इस सूक्त का बृहस्पतिपरक अर्थ भी दिया है जबकि सायणाचार्यादि भाष्यकार केवल आदित्यपरक अर्थ ही करते हैं।

लेखक जब बृहस्पति व गणेश (गणपति) को भी एक ही कहता है तो जिज्ञासा अत्यन्त बढ़ जाती है। लेखक ने "गणानां त्वा गणपति···' आदि मन्त्र (यजुर्वेद-२३-२९) जो अश्वमेध प्रकरण में पढ़ा गया है, का अर्थ का पृथक् किया है। उनके अनुसार अश्व राजा का प्रतिनिधित्व करता है। इससे उन विद्वानों की मान्यता का तो स्पष्ट ही खण्डन हो जाता है जो गणपति को अनार्य देवता कहते हैं। अपने इस भाव की पुष्टि में लेखक ने त्रिचुरापल्ली मद्रास के एक मन्दिर का भित्ति चित्र भी प्रस्तुत किया है। जिसमें राजा पर अश्व आरूढ़ है अर्थात् राष्ट्र में राजा ही अश्व है। जैसे— द्यु-लोक में आदित्य अश्व है।

गणेश व ब्रह्मणस्पति का एकत्व प्रदर्शित करने के लिए लेखक ने अनेक उदाहरण भी दिये हैं जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण-४-४ में कहा गया है कि "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यम्" इसी प्रकार ऋग्वेद-२-२३-१ में भी

गणपति एवं ब्रह्मणस्पति का एक साथ पाठ है। इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता-२-२-३ में कहा गया है कि "बृहस्पतिर्मणी, स्वां वा एतद् देवतां भूयिष्ठेनार्पयति सजातैरेनं गणिनं करोति" जिनसे गणेश के स्वरूप पर पुनः विचार आवश्यक हो ही जाता है। इस पक्ष में कुछ अन्य प्रमाण भी लेखक ने प्रस्तुत किये हैं। यथा— बृहस्पतिं हवाम हे विश्वतः सगणं वयम्। ...मैत्रायणी संहिता-४-१२-१; बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये ...ऋग्वेद-५-५१-१२। इससे देवों के अध्ययन में एक नया मोड़ आ सकता है। इसी प्रकरण में रुद्र के गणपतित्व का भी स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया गया है पर वह और अधिक व्याख्या की अपेक्षा करता है। क्योंकि रुद्र, वसु और आदित्य तो गण देवता हैं किन्तु इन गण देवों में बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति की चर्चा कहीं नहीं प्राप्त होती।

इन्द्र के साथ बृहस्पति के द्वारा भी असुर विनाश का कार्य होता है। असुरों के साथ वाक्-युद्ध में बृहस्पति का महत्त्व स्पष्ट ही है। बहुत से मन्त्रों में इस वाक् युद्ध का वर्णन हमें प्राप्त होता है। यदि बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति को एक मानकर हम पुरोहित (विशेषण) को राजा इन्द्र के साथ संग्रामों में भाग लेते हुए भी देख सकते हैं। पुरोहितों का संग्राम में राजा का साथ देना कोई नयी बात नहीं है। वैसे ब्रह्मणस्पति भी इन आसुरी शक्तियों को समाप्त करने के लिए धनुष धारण करता है (ऋग्वेद– २–२४–८) इसमें ऋत् की ज्या है जो स्पष्ट ही अज्ञान या तम पर ज्ञान या प्रकाश की विजय की सूचक है। इसके अतिरिक्त शम्बर (ऋग्वेद—२–२४–२) पणि, (ऋग्वेद—२–२४–६) का धर्षण भी वे करते हैं। इतना ही नहीं त्रिपुर का भी विनाश करते हैं—"घ्नन्न वृत्राणि विपुरोदर्दरीति" (ऋग्वेद—६–७३–२) जो रुद्र के लिए प्रसिद्ध है।

ब्रह्म को बृहस्पति मानकर ब्रह्मजाया अर्थात् बृहस्पति की पत्नी एवं बृहस्पति के पशुओं की बड़ी सुन्दर एवं विचारपूर्ण आध्यतिमक व्याख्या लेखक द्वारा प्रस्तुत की गयी है। "......... तेनजायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुहवं न देवाः॥"

बृहस्पति के वशा सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या करके वशा के एक नवीन अर्थ की उद्भावना की गई है। जो सायण या सातवलेकर आदि की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वशा को योगियों का ज्योतिष्पुञ्ज (Aura) कहा गया है। जैसा कि अथर्ववेद १०–१०–१९ करता है—

> ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि।
> ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत॥ तथा
> "वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः"

इत्यादि से वशा का गोत्व जाति का प्राणि होना खण्डित हो जाता है।

बृहस्पति का क्रोञ्च पक्षी से सम्बन्ध 'क्रोञ्चः बृहस्पतेः' छान्दोग्योपनिषद्- २-२२-१ तथा प्रसंगवश निरुक्त में वर्णित शन्तनु एवं देवापि की कथा का स्पष्टीकरण भी लेखक ने किया है। इसके साथ ही बृहस्पति का फालमणि से सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। यहाँ अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत 'खेत' अर्थ को स्वीकार न करते हुए उसका अर्थ दिव्यगुणयुक्त अन्न किया है।

बृहस्पति के बारे में वर्णन करते हुए १६ (सोलह) वें अध्याय में पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों की बृहस्पति के बारे में सम्मतियाँ दी गई हैं। जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सायण, अरविन्द, दयानन्द, मैक्डानल आदि प्रमुख हैं। यहाँ तक प्रथम भाग समाप्त हो जाता है। शेष ५ (पाँच) अध्याय ब्राह्मणों पर आधारित हैं।

पुस्तक के १७ (सत्रह) वें अध्याय में लेखक ने बृहस्पति व ब्रह्मा का एकत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसलिए बृहस्पति ही यज्ञ का ब्रह्मा है, और ब्रह्मात्व से ही वह यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। १९ (उन्नीस) वें अध्याय में प्रजापति के अपनी दुहिता का पीछा करने को तथा रुद्र द्वारा विद्ध होने एवं प्राशित्र भक्षण की क्रिया का सुन्दर सामञ्जस्य किया है, उसकी व्याख्या भी लेखक की अपनी है। इसी प्रकार वाजपेय यज्ञ का भी बृहस्पति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

इन २१ (इक्कीस) अध्यायों के बाद अन्त में बृहस्पति सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन करके उनकी व्याख्या की गई है, जिससे पुस्तक और भी महत्वपूर्ण हो गई है। पुस्तक देखते ही अपनी ओर आकृष्ट करती है। कागज़ एवं छपाई सुन्दर है। मुद्रा राक्षसों का अभाव अत्यन्त सन्तोषजनक है। अतः शुद्धि-पत्र लगाने की आवश्यकता नहीं है तथा पाठक के लिए कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। इसके लिए लेखक व प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं। विषय की विशदता एवं गम्भीरता के साथ ही लेखक का चिन्तन अपनी स्पष्ट एवं स्थायी छाप छोड़ता है। एक नवीन विचार-चिन्तन की प्रेरणा देने में भी पुस्तक सक्षम है।

—डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
रीडर, वेद-विभाग

—❀—